विश्वम्भर 'मानव'

काव्य का देवता : निराला

लोकभारती प्रकाशन
१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद—१

● प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद–१

● मुखपृष्ठ : सोना घोषाल

● प्रथम संस्करण : १९६३
● मूल्य ४·५० न० पै०

● मुद्रक : महावीर जैन
● लोकभारती मुद्रणालय
● इलाहाबाद—१

एक ही सरकारी कार्यालय के एक ही कमरे में
साथ-साथ काम करने की सुखद स्मृति में
श्री अमृतलाल नागर को

एक युग

किसी भी साहित्य मे—विशेष रूप से हिंदी में—जो श्रेष्ठतम है, उसका मैं सदा से प्रशंसक रहा हूँ। इसके अंतर्गत मैं छायावादी-काव्य को भी लेता हूँ। आरम्भ से ही मेरी इच्छा थी कि इस काव्य के सम्बन्ध मे मैं कुछ लिखूँ। आज जब उस इच्छा का विश्लेषण करता हूँ, तो कई बातें उभर कर सामने आती हैं। पहली बात है—छायावादी-काव्य के अकारण विरोध के प्रति एक प्रकार के तीखे विरोध की अदम्य भावना। यह विरोध मुझे 'काव्य मे रहस्यवाद' और 'छायावाद का पतन' में सबसे अधिक मिला। स्वभावतः दोनों ग्रन्थों के मंतव्यों का जहाँ भी अवसर मिला है, मैंने खुलकर विरोध किया है। प्रारंभ मे जो लोग छायावाद को सहानुभूति की दृष्टि से देखते भी थे, उनका भी अपना एक सीमित-सा दृष्टिकोण था। इनमे से एक आलोचक ने 'वृहत्त्रयी' के सिद्धांत का प्रचार कर रखा था। इसके अंतर्गत प्रसाद, निराला, पंत को तो उन्होंने मान्यता प्रदान कर दी थी; पर महादेवी को इनके समकक्ष रखने में उन्हे संकोच का अनुभव होता था। फिर भी आधुनिक-काव्य में महादेवी जी को कही तो रखना था; अतः इस वृहत्त्रयी के साथ एक 'लघु त्रयी' का आविष्कार हुआ जिसमे रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा और महादेवी वर्मा का नाम लिया जाने लगा। कुछ लोग इसे 'वर्मा त्रयी' कहने लगे। स्पष्ट ही यह दृष्टिकोण बड़ा संकीर्णतावादी था।

विश्वास है अपनी भ्रांति का पता अब ऐसे लोगों को चल गया होगा। एक दूसरे समीक्षक थे, जिन्हें कामायनी में काव्यत्व ही नही दिखाई देता था। कितने संतोष की बात है कि अब उसी में उन्हें सभी कहीं उदात्त-तत्व के दर्शन होने लगे हैं।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं अपने को छायावाद के प्रारम्भिक व्याख्याकारों में से समझता हूँ। मेरा दृष्टिकोण छायावाद के प्रति सही दृष्टिकोण बनाने में कहाँ तक सहायक हुआ है, मैं नही जानता; पर इस बात की मुझे कम प्रसन्नता नही है कि हिंदी के बहुत-से प्रतिष्ठित आलोचकों ने छायावाद की अपनी व्याख्याओं मे धीरे-धीरे सुधार किया है और उसकी देन को ठीक-से स्वीकार करने लगे हैं। मेरी धारणा है कि कु-प्रचार की शक्ति अभी और क्षीण होगी, पूर्वाग्रह की मात्रा अभी और कम होगी, भ्रांतियाँ अभी और मिटेंगी।

छायावाद-युग और उसके काव्य से सम्बन्धित मेरे चार समीक्षा-ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं—

महादेवी की रहस्य-साधना	१९४४
सुमित्रानंदन पंत	१९५१
प्रसाद और उनकी कविता	१९६२
काव्य का देवता : निराला	१९६३

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा मेरी उस प्रारम्भिक इच्छा की पूर्ति आज हो रही है। एक 'प्रसाद' जी को छोड़कर जिनका देहावसान मेरे विद्यार्थी-जीवन मे ही हो गया था, शेष तीनो महान् छायावादियो के सम्पर्क मे मैं थोड़ा-बहुत रहा हूँ। अतः इस अवसर पर उन सभी के सद्-व्यवहार के प्रति मैं अपनी आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ। इनकी प्रतिभा के अनुकूल मुझसे कुछ भी नही बन पड़ा है, इस बात की चेतना और किसी को हो न हो, मुझे है।

—विश्वम्भर 'मानव'

८८८, कल्याणीदेवी
इलाहाबाद-३

अनुक्रम

संशोधन

पृष्ठ १४ की २३ वी पंक्ति मे बाईस सौ के स्थान पर इक्कीस सौ, ६० की १३ वीं पक्ति मे 'पीके छे' के स्थान पर 'के पीछे' और १६७ की १२ वी पंक्ति मे आठ के स्थान पर साठ पढिए। और भी कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं।

जीवन

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का जन्म सन् १८९६ मे हुआ। निश्चित तिथि के अभाव में इनका जन्म-दिवस माघ मास मे वसंत-पंचमी को मनाया जाता रहा है।* ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता पं० रामसहाय उन्नाव ज़िले मे गढाकोला गाँव के निवासी थे और बंगाल मे मेदिनीपुर ज़िले के महिषादल राज्य में नौकरी करते थे। वहाँ एक सिपाही के रूप मे इनकी भरती हुई। बाद मे ये राज्यकोष के संरक्षक नियुक्त हो गए। लोगो का कहना है कि निराला की मा एक तो सूर्य का व्रत रखती थीं, दूसरे इनका जन्म रविवार को हुआ; यही कारण है कि इनका नाम सूर्यकुमार रखा गया। आगे चलकर स्वयं कवि ने इसे सूर्यकांत मे बदल दिया।

निराला तीन वर्ष के थे कि इनकी मा की मृत्यु हो गई। पिता राजा के कृपा-पात्र थे; अतः इनके पालन-पोषण के लिए एक धाय रख दी गई। बड़े होने पर महिषादल राज्य के हाईस्कूल मे ये प्रविष्ट हुए, जहाँ इन्होने नवी कक्षा तक शिक्षा पायी। इनकी प्रारभिक शिक्षा बंगाली मे हुई; यद्यपि घर पर ये बैसवाड़ी ही बोलते रहे होगे। रामचरित-मानस के ये प्रारंभ से ही प्रेमी थे।

---

*बाबू श्यामसुन्दरदास ने इनके जन्म की तिथि माघ शुक्ल ११ संवत् १९५३ मानी है, जो ठीक प्रतीत होती है।

सन् १९११ में जब ये नवीं कक्षा में थे, इनका विवाह कर दिया गया। उस समय ये पंद्रह वर्ष के थे और इनकी पत्नी बारह वर्ष की। एक वर्ष बाद गौना हुआ। मनोरमादेवी रायबरेली जिले मे डलमऊ के पं० रामदयाल की पुत्री थीं। वे सुंदर, शिक्षित और संगीत मे निपुण थी। इनमे सन् १९१४ मे एक पुत्र और १९१७ मे एक पुत्री का जन्म हुआ। पुत्र का नाम रामकृष्ण और पुत्री का सरोज रखा गया। सन् १९१८ मे निराला विधुर हो गए। उस समय ये केवल बाईस वर्ष के थे। लोगों के बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने दूसरा विवाह नही किया।

महिषादल मे निराला जी ने कुश्ती लड़ना, फुटबाल खेलना, तैरना और गाना सीखा। अध्ययन मे इनका मन नहीं लगता था; अतः ये हाईस्कूल मे फ़ेल हो गए। इनकी स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण पिता का व्यवहार इनके प्रति प्रारंभ से ही कुछ कठोर था। इस समय तक इनका विवाह हो चुका था। पिता ने यह समझकर कि पुत्र के प्रति उन्होंने अपने सब कर्त्तव्यो का निर्वाह कर दिया है, इन्हें घर से निकाल दिया। वहाँ से ये सीधे ससुराल पहुँचे, जहाँ इनकी सास ने इन्हे किसी प्रकार का कष्ट नही होने दिया। जब पिता को अपनी भूल का आभास हुआ, तो वे पुत्र और पुत्रवधू को मनाकर महिषादल ले आए।

लेकिन पारिवारिक सुख निराला के भाग्य में था नही। प्रथम महायुद्ध के उपरांत सन् १९१८ मे देश मे महामारी का प्रकोप हुआ। कलकत्ते मे इन्हे अपनी पत्नी की बीमारी का तार मिला। वे उस समय डलमऊ मे थीं। इनके ससुराल पहुँचने से पहले ही उनकी मृत्यु होगई। वहाँ से जब ये गढ़ाकोला पहुँचे, तो रास्ते में दादाजाद बड़े भाई का शव मिला। तीसरे दिन भाभी ने शरीर त्याग दिया। उसके दूसरे दिन उनकी दूध-पीती बच्ची चल बसी। इसके उपरांत चाचा भी नही बच पाए। इस प्रकार इनफ्लुएंजा से इनके चाचा, भाई, भौजाई, उनकी

बच्चो और इनकी पत्नी, अर्थात् परिवार के पाँच आदमी बच गए बसे। पिता की मृत्यु एक वर्ष पूर्व ही हो चुकी थी। परिणामस्वरूप चाचा के चार और अपने दो बच्चों के भरण-पोषण का भार इनके कंधो पर आ पड़ा। मृत्यु के इस वज्रपात के उपरांत ये डलमऊ चले गए। मस्तिष्क इनका विक्षुब्ध और मन उद्वेगपूर्ण था। वहाँ गंगा नदी के किनारे अवधूत टीले पर बैठे लाशो का दृश्य ये देखते रहते थे; अतः जिस शाति को प्राप्त करने आए थे, वह इन्हे न मिली।

पिता की मृत्यु के उपरांत महिषादल राज्य मे इन्हे नौकरी मिल गयी। राजा गाने-बजाने के शौकीन थे। एक बार किसी नाटक के रिहर्सल में इन्होंने संस्कृत का एक छंद पढा। राजा ने स्वर की माधुरी पर मुग्ध होकर इनकी संगीत-शिक्षा का प्रबंध कर दिया। एक दिन एक साधु को लेकर इनमे और राजा के 'हाउसहोल्ड सुपरिन्टेन्डेन्ट' में झगड़ा हो गया। बात बढने पर नौकरी छूट गयी। यह सन् १९२० की बात है। वहाँ से ये देहात चले आए तथा गढाकोला एवं डलमऊ के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन मे सक्रिय भाग लेने लगे। राजनीति में तब महात्मा गांधी ने अपना आंदोलन प्रारंभ किया ही था।

खड़ी बोली के अध्ययन की ओर इनका झुकाव अपनी पत्नी के प्रभाव के कारण हुआ। हिंदी मे इनकी पहली कविता 'जुही की कली' है जिसका रचना-काल सन् १९१६ बतांया जाता है। सुनते हैं यह रचना 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गयी थी और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसे लौटा दिया था। इस पर कुछ लोगों ने द्विवेदी जो को लांछित करने का प्रयत्न किया है, जो ठीक नही है। संपादकों की अपनी एक रुचि होती है, एक नीति; अतः किसी रचना के लौट आने से यह नही सिद्ध होता कि वह निकृष्ट कोटि की है। द्विवेदी जी का निराला से कोई द्वेष भाव नही था। इसका प्रमाण यह है कि उनका प्रथम निबंध 'हिंदी बँगला का तुलनात्मक व्याकरण' सन् १९१९ मे 'सरस्वती'

मे ही प्रकाशित हुआ । इसके अतिरिक्त अपने संकट के दिनों में निराला जी द्विवेदी जी से उनके निवास-स्थान पर जाकर मिले और उन्होने काशी तथा कानपुर मे उनकी नौकरी के लिए प्रयत्न किया और बाद मे कलकत्ते के 'समन्वय' मे इनकी नौकरी द्विवेदी जी के कारण ही लगी ।

रामकृष्ण मिशन के सन्यासियो के साथ रहते हुए भी 'निराला' जी की भेंट 'मतवाला' के संचालक श्री महादेव प्रसाद सेठ से होती रहती थी । दो वर्ष के उपरांत निराला 'समन्वय' से 'मतवाला' मे आ गए । 'मतवाला' हास्य-व्यंग्य-प्रधान साप्ताहिक था जो प्रति शनिवार को कलकत्ते से निकलता था । 'मतवाला'-मंडल मे उस समय बाबू शिव-पूजनसहाय, मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव तथा निराला जी थे । यहीं कवि ने अपना उपनाम 'मतवाला' के सम पर 'निराला' रखा । संभवतः यही वे सूर्यकुमार से सूर्यकांत हुए । इसी 'मतवाला' के अठार-हवें अंक मे 'जुही की कली' सन् १९२३ मे प्रकाशित हुई । पत्रिका में निराला जी एक वर्ष रहे । इन पत्रिकाओं के कार्य-काल में 'अनामिका' और 'परिमल' की बहुत-सी रचनाएँ लिखी गईं ।

स्वतन्त्र होने पर इन्होने अनुवाद, जीवनी-लेखन और पुस्तको के संपादन का काम हाथ मे लिया । बच्चे इस अवधि मे डलमऊ मे रहे ।

सन् १९२७ मे अस्वस्थ होकर ये काशी आए । जैसे कलकत्ते मे बेचन शर्मा उग्र, शिवपूजनसहाय और नवजादिकलाल वर्मा से सम्पर्क रहा, वैसे ही बनारस मे जयशंकर 'प्रसाद', विनोदशंकर व्यास, प्रेमचंद तथा विहार के जानकीवल्लभ शास्त्री से ।

सन् १९२८ मे ये लखनऊ चले आए और दुलारेलाल भार्गव के साथ काम करने लगे । इस काम मे 'सुधा' के लिए टिप्पणियाँ लिखना भी सम्मिलित था । 'गीतिका' और 'तुलसीदास' का प्रणयन यही हुआ । यही 'अप्सरा' और 'अलका' उपन्यासों की रचना हुई । यही

'लिली' की कहानियाँ लिखी गयी। लखनऊ का प्रवास-काल सन् १९२८ से १९४२ तक समझना चाहिए। लखनऊ मे पहले ये एक होटल मे, फिर नारियलवाली गली तथा भूसा-मंडी मे मकान लेकर रहे। पंत जी जब लखनऊ आते थे, तो इनसे मिलते ही थे। ये भी उनसे एक बार मिलने कालाकाँकर गए थे। लखनऊ मे ही मिश्रबंधुओं के अतिरिक्त श्रीनारायण चतुर्वेदी, डा० रामविलास शर्मा तथा अमृतलाल नागर से परिचय बढ़ा।

दो वर्ष निराला श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा के युग-मंदिर उन्नाव मे भी रहे—उनके पुत्र अजितकुमार की डायरी के अनुसार एक बार सन् १९४३ मे, दूसरी बार १९४५-४७ मे। वहाँ 'मानस' के कुछ अंश का इन्होने खड़ी बोली मे रूपान्तर किया। 'कुकुरमुत्ता' 'अणिमा' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' का प्रकाशन युग-मन्दिर से ही हुआ।

उन्नाव से ये चित्रकूट चले गए, जहाँ बीमार पड़ गए। वहाँ से लौटकर प्रयाग आए। लखनऊ मे रहकर भी प्रयाग से इनका संबंध बना हुआ था। यहाँ इनके कई प्रसिद्ध ग्रंथ जैसे 'गीतिका', 'तुलसीदास' और 'निरुपमा' आदि भारती भंडार, लीडर प्रेस से पहले ही प्रकाशित हो चुके थे। गीतिका की भूमिका श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने लिखी। महादेवी जी ने तो इन्हें अपना राखी-बंद भाई ही बना लिया। इनके अन्य सुहृदो मे नन्ददुलारे बाजपेयी, वाचस्पति पाठक और कमलाशंकर को समझना चाहिए। कुछ दिन ये गंगा नदी के किनारे रसूलाबाद स्थित 'साहित्यकार संसद' के बँगले मे ठहरे। थोड़े दिन दारागंज मे पं० श्री नारायण चतुर्वेदी का आतिथ्य ग्रहण किया। फिर स्वतन्त्र रूप से किराये पर एक कमरा लेकर एक पंडा के घर मे रहने लगे। अंत मे अनेक कारणो से इन्होने चित्रकार कमलाशंकर के कला-मदिर मे रहने का निश्चय किया। 'नए पत्ते', 'बेला' और 'चोटी की पकड़' आदि दारागंज की ही देन है।

इस प्रकार इनकी साहित्य-साधना के पाँच क्षेत्र हैं—कलकत्ता, गढाकोला, लखनऊ, उन्नाव, और इलाहाबाद। 'पल्लव' की आलोचना गढाकोला में लिखी गयी। पत्र-पत्रिकाओं मे से इन्होंने सरस्वती, प्रभा, नारायण, समन्वय, मतवाला, सुधा, माधुरी, वीणा, रँगीला, रूपाभ और भारत मे विशेष रूप से लिखा।

सन् १९३० मे अपनी पुत्री सरोज का विवाह इन्होंने श्री शिवशेखर द्विवेदी के साथ किया। द्विवेदी कलकत्ते में 'रँगीला' पत्र के प्रबंधक थे। इस पत्रिका में संपादक के रूप में निराला जी ने भी तीन महीने काम किया। सन् १९३५ मे लंबी बीमारी के उपरांत सरोज चल बसी।

निराला का जीवन बहुत घटनापूर्ण रहा है। अपने व्यवहार से भी सम्पर्क मे आने वाले व्यक्ति को वे चकित करते थे। साहित्यिको मे जितने संस्मरण उन पर लिखे गए, उतने शायद ही और किसी पर कभी लिखे गए हों। इनमे महादेवी जी द्वारा लिखा गया रेखा-चित्र अनुपम है। निराला को हम 'महाप्राण' कहते हैं। इस शब्द का प्रयोग 'परिमल' की एक कविता मे कवि के लिए उन्होने स्वयं किया है। यह विशेषण उनके नाम के साथ अब वैसे ही जुड़ गया है जैसे हरिश्चंद्र के साथ भारतेन्दु या पं० रामचंद्र शुक्ल के साथ आचार्य। साहित्य मे 'महाप्राण' वैसे ही आदर का सूचक है जैसे समाज-सेवा के क्षेत्र मे महामना, शिक्षा के क्षेत्र मे गुरुदेव अथवा राजनीति के क्षेत्र मे महात्मा।

२७ जनवरी सन् १९४७ को वसंत पंचमी के दिन काशी मे निराला की जयंती धूम-धाम से मनायी गयी। सन् १९४९ मे उत्तर-प्रदेश की सरकार ने इनके काव्य-संकलन 'अपरा' को २२००) से पुरस्कृत कर इनका सम्मान किया। जीवन के अंतिम वर्षो मे जब ये शरीर से अस्वस्थ थे और बीच-बीच में ऐसी बातें कह जाते थे कि मिलने वालो को विक्षिप्तता का भ्रम होता था, तब कांग्रेस सरकार ने

३००) मासिक से इनकी आर्थिक सहायता की।

१५ अक्तूबर १९६१ को चित्रकार कमलाशंकर के दारागंज वाले मकान में पूर्वाह्न ९ बजकर २३ मिनट पर इन्होंने अपने भौतिक शरीर को त्याग दिया। मृत्यु से पहले ये हार्निया रोग से पीड़ित थे।

निराला ने अपने जीवन मे निम्नलिखित काव्य-ग्रंथों का प्रणयन किया—

अनामिका	१९२३*
परिमल	१९२९
गीतिका	१९३६
तुलसीदास	१९३८
कुकुरमुत्ता	१९४२
अणिमा	१९४३
नए पत्ते	१९४६
वेला	१९४६
अर्चना	१९५०
आराधना	१९५३
गीत-गुंज	१९५४*

---

*अनामिका (१९३८) और गीत-गुँज (१९५९) के द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण प्रचलित हैं।

व्यक्तित्व

कई प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक ऐसे जो शांत भाव से काम करते हैं और चर्चा का विषय नही बनते; दूसरे ऐसे जो कभी-कभी विशेष चर्चा का विषय बनते हैं; तीसरे ऐसे जिनकी चर्चा बात-बात मे होती है। निराला जी अंतिम कोटि के व्यक्तियों मे से थे। ऐसा नही है कि उनके युग मे उनसे बड़े लेखक न रहे हो; पर ऐसा विलक्षण स्वभाव किसी ने नहीं पाया। महत्व और विलक्षणता का यह संयोग ही निराला के व्यक्तित्व की विशेषता है। वे ऐसे व्यक्ति थे जो दृष्टि को सहसा आकर्षित करते है। सभी लेखक थोड़े-बहुत एबनॉर्मल होते हैं; पर वे आवश्यकता से अधिक एबनॉर्मल थे। अच्छी बात यह थी कि इस प्रवृत्ति का झुकाव अच्छाई की ओर था, बुराई की ओर नही। अपने सामर्थ्य के अनुसार लाभ उन्होंने न जाने कितने प्राणियों को पहुँचाया, पर हानि की तो केवल अपनी। यह एबनॉर्मल स्वभाव अंत मे उन्हे मानसिक असंतुलन की ओर ले गया।

निराला जी स्वस्थ और सुन्दर व्यक्ति थे। उनके ललाट, नेत्र, नासिका, अधर, केश, स्कंध, वक्ष, भुजाओ, जंघाओं और हाथ की उंगलियों की प्रशंसा में लेखको ने श्रेष्ठतम विशेषणो का प्रयोग किया है। किसी ने पठान और किसी ने उन्हे ग्रीक-देवता कहा है। देखने में वे प्रागैतिहासिक-काल के आर्य जैसे लगते थे और वृद्धावस्था में तो अपनी दाढी के कारण ऋषि जैसे प्रतीत होते थे। बहुत-से पुरुष स्वस्थ और

सुन्दर होते हैं; पर ५ फुट ११ इंच लंबे आदमी ने जब महिलाओं जैसे लम्बे केश रख लिए, तो दृष्टि विवश होकर उस पर पड़ने लगी। उन दिनों किसी ने निराला को 'मिस फ़ैशन' कहा, किसी ने 'मेम'। निराला जी सुनते थे और जी मसोस कर रह जाते थे। सोचते थे इसके कधे पर कसकर हाथ रख दूँ तो पिचक कर रह जाय। व्यायाम से पुष्ट उनकें शरीर मे ऐसी ही शक्ति थी। सामान्य व्यक्ति मे अवस्था के परिवर्तनों के अतरिक्त विशेष अंतर नही पाया जाता; लेकिन निराला जी को देखिये तो कभी लम्बे केश है तो कभी घुटा हुआ सिर, कभी मूँछें साफ है तो कभी घनी दाढी। ऐसे ही कपड़ों मे कभी धोती, कभी लुँगी; कभी लम्बा कुर्त्ता, कभी नंगे वदन, कभी श्वेत वस्त्र, कभी गेरुए। कोई मिलने आता है तो उससे उसकी लम्बाई और वज़न पूछ रहे हैं और उसे अपने पास खड़ा करके वतला रहे हैं कि देखो तुमसे निराला ही ऊँचा है—वड़ा है। सुगंधित द्रव्यो का प्रयोग थोड़ा-वहुत सब करते है; पर निराला के सम्बन्ध मे प्रचारित है कि वे तेल के स्थान पर सिर मे इत्र उड़ेलते थे, शरीर पर इत्र की मालिश कराते थे, वालो को कस्तूरी और केसर से सुवासित रखते थे। इस प्रकार वेश-भूषा और केश-विन्यास को लेकर न जाने कितनो वातें फैल गईं।

निराला के स्वभाव में कई वातें पायी जाती है। एक प्रकार का हठ—यह हठ कि जो हम समझते है वह ठीक है। हम ऐसे ही रहेगे, ऐसा ही करेंगे। एक प्रकार का उद्धतपन—यह कि हम किसी से नही दवते, ईंट का जवाब पत्थर से देंगे। वड़े से वडे आदमी का सामना करने का सामर्थ्य हममे है और यह सामना हम डटकर करेंगे। एक प्रकार का विद्रोह—हम सामाजिक रूढ़ियों को स्वीकार नही करते। हम सवके सामने, खुलकर इन रूढ़ियो को भंग करेंगे, कोई न कोई रास्ता निकाल लेंगे। जहाँ तक सामाजिक मान्यताओ का प्रश्न है उन्होने गढ़ाकोला में पतुरिया के लड़के के हाथ से गाँव का विरोध सहन

करते हुए पानी पिया। डलमऊ मे एक हिन्दू मित्र की मुसलमान पत्नी के घर जाकर उसे एकादशाह का अधिकार दिया। बिना बारात के अपनी पुत्री का पाणि-ग्रहण संस्कार कराया। उद्धत ऐसे कि भाषा के प्रश्न पर सीधे महात्मा गांधी से भिड़ गए और जो मन मे आया वह कह दिया। हठ ऐसी कि मरते समय मार्फ़िया के इंजेक्शन के प्रभाव को तुच्छ सिद्ध करके स्ट्रेचर से उठकर खड़े हो गए और कहा कि चाहे मर जायं पर ऑपरेशन के लिए अस्पताल नही जायेंगे। यह हठ, यह उद्धतपन, यह विद्रोह-भाव सब पौरुष की भावना के अंतर्गत आते है। पौरुष का यह भाव उन्हें बैसवाड़े की भूमि से मिला था। निराला मे यह भाव इसलिए भी आया कि वे एक सिपाही के लड़के थे। गाँव का नौकरीपेशा व्यक्ति आज भी वहाँ के लोगों से अपने को थोड़ा भिन्न करके देखता है और स्वभाव से अन्य ग्राम-निवासियों की अपेक्षा प्रगतिशील भी होता है। इसके अतिरिक्त वे राजकुमार और राजकुमारियों के साथ बड़े हुए थे। वे संस्कार भी मिट नही सकते थे। बंगाल मे रहने के कारण बचपन से ही वे अपने को टैगोर का समकक्ष समझने लगे थे—थे अथवा नही यह दूसरी बात है। बैसवाड़े का आदमी, सिपाही का बेटा, राजकुल मे पोषित, टैगोर की बराबरी का हौसला रखने वाला—अर्थात् पौरुष, आभिजात्य और महत्व की सम्मिलित भावना ने वह बल प्रदान किया कि वे रूढ़ियों को कुचलकर, बाधाओ को चीरते हुए, शक्तिशाली से शक्तिशाली और महान् से महान् व्यक्ति से आँखें मिलाकर यह कह सके कि यह मैं जो तुम्हारे सामने खड़ा हूँ—निराला हूं। तुम मेरी बात को समझते हो अथवा नही, मानते हो अथवा नही, चलने देते हो अथवा नही, इस बात की चिन्ता मैं नही करता; लेकिन जो मै ठीक समझता हूं, उसे पूरी ताक़त और ईमानदारी के साथ ललकारकर कहता हूं और संसार या तुम मेरे सम्बन्ध मे क्या सोचते हो, इससे मेरा कुछ बनता-बिगड़ता नही। कोई

कह सकता है कि पानी पीने पर भी पतुरिया के लड़के पतुरिया के लड़के ही रहे, एक मुसलमान स्त्री को एकादशाह का अधिकार देकर भी कोई विशेष बात नहीं हुई। लेकिन एक व्यक्ति था जिसने मनुष्यता को गौरवान्वित किया, रूढ़ि और सम्प्रदाय के ऊपर मानवता को मान्यता प्रदान की। कोई कह सकता है कि भाषा का प्रश्न एक व्यक्ति का प्रश्न नहीं हैं, इसका समाधान जनमत को शक्तिशाली बनाकर ही किया जा सकता है, पर मूल समस्या यह है कि एक पक्ष से जब व्यक्ति बोल रहा है—वह व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो—तो दूसरे पक्ष से भी किसी को बोलना चाहिए और जिस समय निराला बोले थे, समझ रखना चाहिए कि उस समय हिंदी की आत्मा बोली थी। उनकी वाणी देश की वाणी थी। वे राष्ट्रभाषा के वैसे ही प्रतिनिधि थे, जैसे महात्मा गाँधी अथवा श्री नेहरू देश के प्रतिनिधि थे। अस्पताल न जाने वाला प्रसंग भी ऐसा ही है। हो सकता है कि अस्पताल जाने पर वे अच्छे हो जाते अथवा कुछ दिन और जीवित रहते; पर प्रश्न यह नही था...मेरी धारणा है कि मुझे अस्पताल के पास नही, अस्पताल को मेरे पास आना चाहिए। आप समझें या न समझें, मैं ऐसा ही समझता हूँ। मैं कालिदास, गेटे, टैगोर, शेक्सपियर, तुलसी और गालिब की सम्मिलित आत्मा हूं। इस आत्मा की यदि तुम्हे चिंता है तो अस्पताल को मेरे पास भेजो, मैं अस्पताल के पास नही जाऊँगा। और उनकी मृत्यु के उपरात हम जानते हैं कि हमने अपनी कैसी अमूल्य निधि खो दी है—केवल उसका मूल्य न समझने के कारण।

उनकी करुणा और दानशीलता की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। ये कहानियाँ ऐसी नही है कि कल्पना से खड़ी की गई हो। लेखकों ने इन घटनाओ को अपनी आँखों से देखा है और अपने संस्मरणो मे इनका उल्लेख किया है। उन्होंने किसी दरिद्र महिला के बच्चे पर शाल डाल दिया, सड़क के किनारे ठिठुरती किसी स्त्री को अपनी नयी रजाई उढा-

कर आगे बढ गए, नंगे पैर चलते देखकर किसी ग्वाले को अपने नये जूते पहना दिए, कोई इक्केवाला अपने बच्चे को माँगने पर एक पैसा नही दे पाया, इसलिए उसे चार-छः आने के स्थान पर पाँच रुपये दे दिए, ट्रेन में मँगतों को दस-दस के नोट बाँट दिए, किसी भिखारिन ने बेटा कह दिया तो जेब मे जो कुछ था, सब उसके अंचल मे डाल दिया, प्रकाशक से जो रुपये मिले वे गरीब विद्यार्थियों और परिचितों मे बँट गए, सरकार से इक्कीस सौ रुपये का पुरस्कार मिला, तो उनका संकल्प मित्र की विधवा पत्नी के नाम कर दिया—आदि। ये तो केवल वे घटनाएँ हैं जो किसी प्रकार प्रकाश में आ गई हैं। एक ओर हृदय की यह द्रवणशीलता है दूसरी ओर शरीर पर फटे मैले वस्त्र हैं। खाने को कुछ नही है तो कही से चाय पीकर ही भूख मिटा ली है। अतिथि आ गए हैं, तो आटा-लकड़ी माँगने किसी के दरवाजे पर चले गए हैं, दूकानदारो से सामान उधार ले लाए हैं। घर मे सुविधा नही है तो किसी की दूकान के आगे सो गए हैं, पेड़ के नीचे पड़े है। चारपाई नहीं है तो टूटे तख्त अथवा जमीन पर लेट गए हैं। तकिया नही है, तो सिरहाने ईंट लगा ली है, किताबें लगा ली है, कुहनी लगा ली है। अपनी ही बच्ची को दवा के लिए पैसे नही है और वह आँखों के सामने ही घुल-घुल कर मर गयी है। जीवन का अधिकांश मजदूरो की सी साधारण कोठरियो मे बिता दिया है। जो व्यक्ति निराला के स्वभाव को नही समझता, वह कई प्रकार के प्रश्न कर सकता हैं—दूसरो से नही, तो अपने से। भिखारियो की समस्या एक सामाजिक रोग है। समाज ही उसे मिटा सकता है। दरिद्रता की समस्या राष्ट्रीय समस्या है। राष्ट्र ही उसका उन्मूलन कर सकता है। आखिर, एक आदमी कितने नंगे पैर चलने वाले ग्वालाओं को अपने नए जूते दे सकता है? कितने भिखमंगों के ठिठुरते शरीर पर अपनी नयी रज़ाई डाल सकता है? तब क्या ये व्यवहार विवेक-सम्मत हैं? जान-बूझकर अभाव मे जीवित

रहना क्या बुद्धिमानी की बात है ? नौकरी नही, चाकरी नही, लेखन का परिश्रम-साध्य काम है। प्रकाशक रोज़ तो रुपये देगा नही। संपादक भी रोज रुपये नही भेज सकते। बच्चे है। उनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विवाह-गौने का प्रश्न है। अपना शरीर है। यहाँ-वहाँ रहे भी, तो कितने दिन ? अपना स्वभाव है। किसी से मेल खाता है, किसी से नहीं। उधार भी कोई नित्य नही दे सकता। स्वाभिमानी व्यक्ति हैं। किसी ने संकेत से भी कुछ कह दिया, तो हृदय को बहुत ठेस लगेगी। पर निराला इस तरह सोचते ही नही थे, सोच ही नही सकते थे। क्या वे जानते नही थे कि भिखारियो की समस्या को वे नही सुलझा सकते ? क्या वे इतना भी नही समझते थे कि देश मे फैली ग़रीबी को वे अकेले नही मिटा सकते ? लेकिन मनुष्य के रूप मे वे कोई भेद-भाव करके नही चल सकते थे। इतना विशाल था उनका हृदय कि सारी सृष्टि के दुःख को अपना ही दुःख समझते थे, अतः सामने जो पड़ गया और उनके पास जो कुछ हुआ, वह उसे खुले हाथो दे डाला। मेरे पास जो है, वह मेरा नही, तुम्हारा भी है। तुम उसे लो। मुझ पर जो बीतेंगी, वह मैं भुगत लूंगा। देखते नही, इतना लम्बा-चौड़ा शरीर है। मेरा क्या, मैं नंगे पेर चल लूंगा। पैरों मे बिबाइयाँ पड़ जायँगी, पड़ जाने दो। मैं कष्ट सहन कर लूंगा। काँटे लगेंगे, मैं उन्हे वही कुचल दूंगा। मुझे कम्बल, रज़ाई और शाल की आवश्कता नही। न जाने कितने हेमंत-शिशिर की रातें ऐसे ही बिता दी हैं। तुम मज़दूर हो, तुम साधनहीन विद्यार्थी हो, तुम आश्रयहीना विधवा हो—मेरे पास जो पैसा है, गाढ़ी कमाई का, वह तुम लो। मैं कैसे ही दिन काट लूंगा। और तुमने मेरे प्रति कभी सद्भावना व्यक्त की थी, मुझे आश्रय दिया था, मुझे खिलाया-पिलाया था। तुम भी लो। ऐसा नही है निराला मनुष्य के स्वभाव को, उसके स्वार्थ को, शिष्टता के आवरण मे लिपटे उसके छल को समझते नही थे। वे सब समझते थे; पर किसी से कुछ

कहते नहीं थे। अपने से जितना बन पड़ता था, उतना कर देते थे। आर्थिक दृष्टि से उनके पास अधिक कुछ था भी नहीं; पर हृदय का अपार अपरिमित भांडार तो उनके पास था ही, जिसे उन्होने मुक्त-हृदय से लुटाया। यह कवि का मानव-धर्म था, महिषादल मे राजकुमारों के सम्पर्क से उत्पन्न बादशाहत का संस्कार था, रामकृष्ण-मिशन से मिली करुणा की विभूति थी, जिसने उन्हे ऐसा बना दिया। यही कारण है कि कवियों ने जहाँ उन्हे अमृतपुत्र या अपराजेय कहा, आलोचकों ने जहाँ उन्हे महाकवि और महाप्राण घोषित किया, वहाँ जनता उन्हें दारागंज का संत और दीनों का मसीहा भी कहकर पुकारती थी।

निराला जी के खान-पान को लेकर लोग आलोचना करते पाए जाते है। अपने संस्मरणों में डा० उदयनारायण तिवारी ने उनके सिगरेट पीने, उग्र और बेढब बनारसी ने उनके भंग छानने, विनोदशंकर व्यास ने माँस खाने तथा उपेन्द्रनाथ अश्क ने शराब पीने की बात उठायी है। और यदि बच्चन जी की बात पर विश्वास किया जाय तो उन्होने निराला को सब कपड़े उतार कर, अपने सामने खड़े हुए भी देखा था। सिगरेट, भग और शराब पीना साधारण बातें है। माँस खाना कोई दोष की बात नहीं मानी जाती। हिंदी के बहुत से लेखक सिगरेट पीते हैं, भाँग छानते है, मांस खाते हैं, शराब पीते है, लेकिन इनमे से कुछ ने जिस रूप मे इन बातो की चर्चा की है, वे खटकने वाली हो गई हैं। जहाँ तक निराला जी का सम्बन्ध है वे ऐसी छोटी बातों की चिंता स्वप्न मे भी नहीं करते थे।

निराला का अपने जीवन मे विरोध हुआ। विरोध किस महत्त्व-पूर्ण व्यक्ति का नही होता ? लेकिन निराला थे कि अपने विरोध से आवश्यकता से अधिक विचलित और क्षुब्ध हो उठते थे। ऐसा नही है कि विरोध का उत्तर वे न देते हो। बनारसीदास चतुर्वेदी के लेख का उत्तर उन्हे मिल ही गया था। इसके अतिरिक्त जब भी अवसर मिला

—जैसे चतुरी चमार में—वे उन पर व्यंग्य कसते रहे। 'पल्लव' मे पंत जी ने नि'ाला की रचनाओ की आलोचना प्रसंगवश ही की थी; लेकिन वे इसका इतना बुरा मान गए कि उत्तर मे उन्होने 'पंत और पल्लव' नाम से सौ पृष्ठ की एक पुस्तक ही लिख डाली। ऐसी 'डेमेजिग' समीक्षा लिखने के उपरांत कोई भी व्यक्ति मित्रता की आशा नही कर सकता; पर निराला जी जीवन भर पंत जी के लिए तरसते रहे। पंत जी ने इस आलोचना का कोई उत्तर नही दिया और निराला की प्रशस्ति मे एक कविता भी लिखी; पर मेरा अनुमान है कि भीतर का संबंध इसी घटना के उपरांत सदैव को समाप्त हो गया था। जहाँ तक मुझे स्मरण है पत जी जबसे रेडियो मे आए तब से उनकी मृत्यु तक अर्थात् सन् १९५० से १९६१ तक दारागंज मे उनसे मिलने कभी नही गए। रघुपतिसहाय 'फिराक़' के पूछने पर निराला जी ने केवल इतना कहा—पंत इज़ नोट अवेलेविल माई डियर, पंत इज़ नोट अवेलेविल—पंत अब कहाँ प्राप्य है? मिलने में कोई बाधा नही थी; पर मिलने पर वे न जाने क्या कह बैठें, कैसा व्यवहार कर बैठें, पंत जी इस संबंध मे आश्वस्त नही थे, ऐसा मेरा अनुमान है। और कोई बात हो, तो मैं नही जानता। ऐसे ही, काशी में निराला-जयन्ती के अवसर पर मैथिलीशरण गुप्त, पंत और महादेवी आदि मे से कोई भी नही सम्मिलित हुआ। मंच पर बैठे निराला की आँखें बार-बार इन लोगों को खोज रही थी। इन्हे न पाकर उन्हें पीड़ा हुई। यह पीड़ा बहुत स्वाभाविक थी। और कुछ नहीं तो निराला जी का मुँह देखकर ही लोगो को उस समारोह में सम्मिलित होना चाहिए था। निराला जी सब चीजों को केवल अपने दृष्टिकोण से देखने वाले थे। जब वे वहाँ थे तो उनके स्नेहियो, मित्रों और प्रशंसको को भी वहाँ होना चाहिए था, इसके अतरिक्त वे दूसरा तर्क न सुन सकते थे, न समझ सकते थे। व्यक्तिगत रूप से, मैं इसे उनके हृदय की सरलता समझता हूँ। प्रारंभ मे सम्पा-

दकों और समीक्षकों ने उनके प्रति जो अन्याय किया, उसका उत्तर उन्होने 'चाबुक' में दे दिया है। 'मतवाला' मे 'गरगजसिंह वर्मा' नाम से वे आलोचना लिखा करते थे। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और ओरछा नरेश को जो उत्तर उन्होंने दिए थे, वे तो अब क्लासिक बातें हो गयी है। इतना होने पर भी उनकी यह इच्छा बनी ही रही कि श्री नेहरू उनके दारागज वाले निवास-स्थान पर उनसे भेंट करने आवें। वे नही आ रहे हैं, तो निराला जी चाय का प्याला हाथ मे लिए स्वयं उनसे भेंट करने जा रहे है। सिपाही उन्हे रोक देते है और वे प्याले को जमीन पर पटककर लौट आते है। सुनने वाले को यह बात विलक्षण लग सकती है। लेकिन जहाँ तक निराला जी का संबंध था, ऐसा करते हुए उन्हे कुछ भी अस्वाभाविक नहीं लगा होगा। सन् १६-३६ मे ही निराला ने महात्मा जी से कहा था—आप तौल लीजिए। अगर बंगला मे रवीन्द्र हुए है, तो हिन्दी मे निराला भी है। ऐसे ही सन् १६४७ मे काशी मे स्वर्ण-जयंती के अवसर पर सिल्क के लंबे कुर्ते, उत्तरीय, साफा और धोती मे अपने को देखकर—निराला जी के तब दाढ़ी मूछें न थी—उन्होंने दर्पण के सामने खड़े होकर अपने परिचितों से पूछा था कि क्या वे विवेकानंद जैसे नही लगते ? उनके यौवन-काल के चित्रो को देखें तो लगता है कि कोई राजकुमार भी इससे अधिक सुन्दर क्या होगा। सारी उलझन इस संस्कार को लेकर ही थी। निराला अपने को रवीन्द्रनाथ, विवेकानंद और श्री नेहरू से एक इंच कम नही समझते थे। उन्हें इस बात पर आश्चर्य होता था कि लोग उन्हे रवीन्द्र-नाथ के समान क्यो नही मानते अथवा श्री नेहरू उनसे मिलने क्यो नही आ सकते ? वैसा क्योंकि संभव नहीं हो सका; अतः वे क्षुब्ध थे। विरोध करने पर भी वे स्नेह को संभव समझते थे, जबकि दूसरे लोग ऐसा नही मानते। अपने व्यंग्य- काव्य मे उन्होने किसी को क्षमा नही किया। उसका आशय कहीं-कहीं बहुत स्पष्ट है—ऐसा स्पष्ट कि जिसके प्रति

व्यंग्य है, उसे समझने मे देर नही लगेगी। इसके वाद भी वे आशा करते थे कि लोगो की उनके प्रति सद्भावना वनी रहे, श्रद्धा वनी रहे। गुण-दोष-मय इस सृष्टि मे यह संभव नहीं है। एक ओर अपने व्यवहार को ठीक समझना और दूसरे के व्यवहार को ठीक न समझना; एक ओर दूसरे से कुछ भी कह देना और दूसरे से कुछ न सुनना; एक ओर अपने को सवसे ऊपर समझना और अपने से ऊपर किसी को न समझना—यह विरोधाभास जीवन के अंत तक वना रहा और अंत मे इस अंतर्द्वन्द्व के साथ एक महान् जीवन का अंत हो गया।

निराला जी ने एक स्थान पर दुःख को अपने जीवन का पर्याय वतलाया है। उसे पढ़कर वहुत कष्ट होता है। जीवन के वहुत से दुःख ऐसे हैं जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नही, जैसे मृत्यु का दु.ख। निराला जी के जीवन मे मा, पत्नी और पुत्री का शोक ऐसा ही है। जीवन के अंत में उन्हे शारीरिक कष्ट मिला, यह भी दुःख की वात है। लेकिन जहाँ तक आर्थिक कष्ट का प्रश्न है, उसके लिए अधिकतर वे ही उत्तरदायी थे। १९३० मे सरोज के विवाह के उपरान्त वे एक प्रकार से अकेले थे। ऐसी दशा मे आर्थिक अभाव की वात समझ मे नही आती। रही संघर्ष की वात। संघर्ष तो इस युग के लेखको मे से सभी को करना पड़ा है। इस दृष्टि से प्रसाद, पंत, महादेवी, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, वच्चन, यशपाल, जैनेन्द्र, नागार्जुन यहाँ तक कि अमृतलाल नागर तक निराला से अधिक सफल रहे हैं। यदि ये लोग अपने संघर्ष में सफल हो सकते थे, तो निराला क्यों नहीं हो सकते थे? कारण है वही एकमात्र फक्कड़पन। निराला जी जो पाते थे, उसे लुटा देते थे, वे पैसे का हिसाव रखना नहीं जानते थे,—यह सव मेरी समझ मे आता है; पर विद्रोही होने पर अपनी पुस्तको का कापीराइट कैसे वेच देते थे, यह वात मेरी समझ मे कभी नहीं आयी। उन्होने वहुत कुछ हठ के कारण भी खोया। कवि-सम्मेलन मे जायँगे तो इतना लेंगे;

कोई प्रतिष्ठित संस्था उनका संकलन प्रकाशित करना चाहती है तो इतने हज़ार एडवांस चाहिए, रेडियो पर बोलने जायँगे तो इतनी फ़ीस से कम पर बात नही करेंगे। निराला जी के दृष्टिकोण से ये बातें समझ मे आती हैं; पर इतना वे क्यो नही सोचते थे कि संस्थाओं की अपनी कुछ विवशताएँ होती है, उनके अपने कुछ नियम होते है। इस हठ का फल यह निकला कि दोनों ओर कुछ न कुछ हानि हुई। इस दिशा मे और लोगों से निराला की तुलना करके देखते हैं तो यही कहने को मन करता है कि अन्य लेखको ने कुछ अधिक संयम और बुद्धिमत्ता से काम लिया। निराला जी कुछ मिलाकर व्यवहार-कुशल शायद थे नही। यह एक आश्चर्य की ही बात है कि जिस व्यक्ति के इतने प्रशंसक हो, वह जीवन की सामान्य सुविधाओ से वंचित रहे। लेकिन बात घुमा-फिराकर फिर वही आती है। ` किसी की बात मानते ही नही थे। ऐसी दशा मे कोई करे भी तो आखिर क्या करे ?

निराला जी अपनी पहली कविता के साथ ही प्रसिद्ध हो गए थे और उनकी यह ख्याति निरंतर बढ़ती ही रही। मुक्त छंद को लेकर जो उनका विरोध हुआ, वह एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के महत्त्वपूर्ण काम का विरोध था। इससे भी उन्हे ख्याति ही मिली। 'परिमल' के प्रकाशन ने तो काव्य के क्षेत्र मे उन्हें वैसे ही स्थापित कर दिया जैसे 'आँसू' ने प्रसाद को और 'पल्लव' ने पंत को। इसके प्रकाशित होने के थोडे दिनो बाद सन् १९३१ मे पं० नंददुलारे वाजपेयी ने निराला के काव्य पर एक समीक्षात्मक निबंध लिखा। इसके उपरान्त डा० रामविलास शर्मा ने आन्तरिक सहानुभूति के साथ निराला के साहित्य के सौंदर्य, माधुर्य और शक्ति का विश्लेषण किया। छायावादी कवियो मे पं० नंददुलारे वाजपेयी को 'प्रसाद' का, डा० नगेन्द्र को पंत का और डा० रामविलास शर्मा को 'निराला' का आलोचक समझना चाहिए। आलोचना के क्षेत्र में इन महान् कवियो को अधिक से अधिक आत्मीयता

अभी तक इन्हीं समीक्षकों से प्राप्त हुई है। संस्मरण और समीक्षा के रूप मे और भी बहुत-सी सामग्री निराला पर उपलब्ध है। लेकिन निराला जी की बातचीत से ऐसा लगता था जैसे इस सारे काम से वे संतुष्ट नहीं थे। बहुत अच्छा लिखने पर भी शायद ही कभी कोई आलोचक अपने प्रिय लेखक को प्रसन्न कर पाया हो। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यो तो आगे आने वाली शताब्दियो मे छाया-वादी कवियों पर निरंतर लिखा ही जायगा; पर प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी पर अब तक जितना लिखा गया है, उससे असन्तुष्ट रहने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। निराला जी को तो अपने जीवन मे वैसे भी बहुत सम्मान मिला था। अकेले उन पर जितनी कविताएं लिखी गयी, शायद ही कभी किसी कवि पर लिखी गयी हो। केवल प्रमुख कवियो की चर्चा करें तो भी एक लंबी सूची बनेगी जिसमें मैथिली-शरणगुप्त, सुमित्रानंदन पंत, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, माखनलाल चतुर्वेदी, रामकुमार वर्मा, डा० रामविलास शर्मा, सोहनलाल द्विवेदी, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, जानकी वल्लभ शास्त्री, शिवमंगलसिंह सुमन, त्रिलोचन शास्त्री, केशवचंद्र वर्मा और प्रभाकर माचवे आदि के नाम हम ले सकते हैं।

क्या निराला जी अपने अंतिम दिनो में विक्षिप्त हो गए थे? इस सम्बन्ध मे स्पष्ट कोई कुछ नही कहना चाहता। उनके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए लोग या तो दुहरे अर्थ वाले शब्दो का प्रयोग करते हैं या उनके मानसिक असन्तुलन को व्यक्त करने वाले किसी पर्याय-वाची शब्द का। निराला जी एबनॉर्मल तो प्रारम्भ से थे ही—उनके जीवन की बहुत-सी घटनाएं और व्यवहार इस बात के साक्षी हैं। जहाँ तक मुझे मालूम है 'स्वगत भाषण' भी वे थोड़ा-बहुत पहले से करते थे। ये ही बातें जीवन के अंतिम दिनो मे कुछ बढ़ गयी। पहली बात है दारागंज के प्रवास-काल मे उनका अंग्रेजी का प्रयोग। इससे यह नहीं

समझना चाहिए कि निराला जी हिंदी के स्थान पर अँग्रेजी के प्रेमी हो गए थे; बल्कि यह तो एक प्रकार की प्रतिक्रिया थी। इससे वे इतना ही व्यक्त करना चाहते थे कि देश के स्वतन्त्र होने पर भी अब भी जो सम्मान अँग्रेजी को प्राप्त है, वह हिंदी को नही। यह उनके क्षोभ की वाणी थी जिसमे निहित दर्द समझने वाले ही समझते थे। जो मिलने जाता था, उससे वे ठीक व्यवहार करते थे, उसकी बात सुनते थे। यदि कोई पुराना परिचित होता तो पुरानी बातों को ज्यों का त्यों दुहरा देते थे। जीवन के अंत तक वे कविता लिखते रहे। इस सबसे तो यही प्रमाणित होता है कि उनके मस्तिष्क का यंत्र ठीक था। लेकिन यह भी सही है कि बीच-बीच मे रूस, अमरीका, इंग्लैण्ड, रवीन्द्रनाथ और शेक्सपियर आदि की बातें करने लगते थे। ये बातें प्रसंग से सम्बद्ध होती थी। ऐसी बातें मैंने स्वयं अनेक बार सुनी हैं। उनसे कुछ न कुछ ध्वनित करना उनका लक्ष्य रहता था। लेकिन सभी कुछ सार्थक होता था, यह नही कहा जा सकता, अतः इसमे कोई संदेह नहीं कि उनकी दिनचर्या मे कुछ पल ऐसे आते थे जो उनके मस्तिष्क के विकार को सिद्ध करें। फिर भी निराला जी ने कभी किसी को कोई हानि पहुँचायी हो—किसी को मारा-पीटा हो—ऐसी कोई घटना नही पायी जाती। जीवन के अंतिम वर्षों मे वे शरीर और मस्तिष्क दोनों से पीड़ित रहे। शरीर उनका सूजने लगा था और आँतें उतर आयी थीं। मृत्यु से पूर्व दो वर्ष उन्होंने काफ़ी कष्ट पाया। इस कष्ट को उन्होंने भीष्म पितामह के समान हँसकर सहन किया।

निराला जी के सम्बन्ध मे जो संस्मरण पाए जाते है, उनमें से अधिकतर तो ऐसे हैं जो पढ़ने योग्य ही नही हैं। उनमे साधारण ढंग की बातें अत्यन्त साधारण ढंग से कही गयी हैं। कुछ थोड़े से दिलचस्प हैं—दिलचस्प इस अर्थ मे कि उनमें कैमरे का रुख अपनी ओर अधिक है, निराला जी की ओर कम। वहाँ संस्मरणकार सामने आगया है,

निराला जी पृष्ठभूमि मे चले गए हैं। इनमे से किसी को उनकी याद सहसा उस समय आयी जब वह अमरीका मे एज़रा पाउण्ड से मिलने जा रहा था, किसी से जब वे मिले तो उस समय वह कम से कम सात भाषाएँ जानता था, किसी से ठीक ऐसे समय भेंट हुई जब उसकी किसी विशेप कहानी की चर्चा चारों ओर फैली हुई थी। ऐसे ही एक लेखक को इस बात की याद रह गयी कि निराला ने अपने संकट के दिनो में उससे कहीं से पच्चीस रुपये उधार लाने के लिए कहा था। दूसरा लेखक अपना सौभाग्य इस बात मे समझता है कि उसने मृत्यु के समय उन्हे अपने हाथ से जल पिलाया। इन संस्मरणों मे निराला जी के उस बड़प्पन के दर्शन नहीं होते, जिसके कारण हम सभी उन्हे इतने सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इन लेखों, संस्मरणो, रेखा-चित्रो, जीवनियों और टिप्पणियों मे किसी ने भी उनके व्यक्तित्व को उनके साहित्य से संयोजित करने का प्रयत्न नही किया। अवयवो की सुंदरता, वेश-भूषा, खान-पान, व्यवहार की विलक्षणता, आर्थिक कष्ट और समझौता न करने की प्रवृत्ति के पीछे भी कुछ ऐसा था, जो उन्हे सामान्य व्यक्ति की कोटि से ऊपर उठाता था, यह किसी ने नही देखा।

निराला जी के व्यक्तित्व को विशिष्टता प्रदान करने वाली पहली बात यह है कि उनके जीवन का एक स्पष्ट लक्ष्य था जिसे उन्होंने अपने जीवन की अंतिम साँस तक कभी विस्मृत नही किया—वह था हिंदी के प्रति अटूट प्रेम। यह एक बहुत बड़ा लक्ष्य था। दूसरे, संसार के श्रेष्ठतम लेखकों की चेतना के स्तर पर वे सदैव जिए। तीसरे, विराट जीवन के मिश्रित रस के साथ उनका गहरा रागात्मक सम्बन्ध था। संक्षेप मे हम कह सकते है कि निराला के व्यक्तित्व के मुख्य उपादान थे—बड़ा लक्ष्य, बड़ी चेतना, बड़ी दृष्टि।

निराला अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्ति को चाहे वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, अपने स्वभाव की विचित्रता और कोमलता से

ऐसा अभिभूत कर देते थे कि एक वार मिलने के उपरांत वह उन्हें कभी विस्मरण कर ही नही सकता था। उन्हे जानने वाले शिक्षित व्यक्तियों की संख्या की तो एक सीमा हो भी सकती है; पर उन अशिक्षित, सामान्य, विपिन्न और तिरस्कृत लोगों की कोई सीमा नही, जिन्हे निराला के हृदय की सहानुभूति और स्नेह प्राप्त हुआ। शिक्षित व्यक्तियों से भी अधिक इन लोगो के पास निराला जी के असंख्य संस्मरण है जो अलिखित रह जायँगे—यद्यपि यह भी सत्य है कि निराला के सम्वन्ध मे आज जितनी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं, उतनी कभी किसी साहित्यकार के सम्वन्ध मे नहीं रही।

हिन्दी-काव्य

हिंदी-काव्य की परंपरा सातवीं शताब्दी के प्रथम सिद्ध कवि सरोज वज्र से मानी जाती है। सिद्धों और नाथो से होती हुई, अपभ्रंश को हिंदी का रूप ग्रहण करने मे यदि कुछ समय लगा हो, तब भी हमारी कविता एक हज़ार वर्ष पुरानी है। एक हज़ार वर्ष की इस अवधि को इतिहासकारों ने चार कालों मे विभक्त किया है। इनके नाम है वीर-गाथा-काल, भक्ति-काल, रीति-काल और आधुनिक-काल। इस बीच हिंदी-काव्य का विकास तीन रूपों मे हुआ—अवधी, व्रज और खड़ी बोली। अवधी के प्रसिद्ध कवियों में हम तुलसी, जायसी, कुतवन, रहीम; व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों मे सूर, नन्ददास, देव, बिहारी और रत्नाकर तथा खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवियों मे मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के नाम ले सकते है। काव्य का यह काल-गत और भाषा-गत विभाजन उसकी विविधता, समृद्धि और शक्ति का परिचायक है। प्रथम सिद्ध कवि से लेकर सबसे कम अवस्था का आज का कवि हिंदी का कवि है। हिंदी केवल अस्सी वर्ष पुरानी नहीं है, जैसा कि कुछ प्रगतिवादी आलोचक भ्रमवश समझते हैं। यह तथ्यहीन प्रचार हमे अपनी गौरवशाली परंपरा से विच्छिन्न करने के लिए जान-बूझकर किया जा रहा है।

हिंदी-काव्य की एक सहस्र वर्ष की इस परंपरा को यदि अखंड रूप मे देखने का प्रयत्न किया जाय, तो कुल मिलाकर हम उस पर गर्व कर

सकते है। विना पक्षपात के हम इस वात को कह सकते हैं कि संसार मे किसी भी भाषा का काव्य इतना समृद्ध नही है, जितना हमारा। किसी भी देश की राष्ट्रीय परंपरा मे न तुलसी-चंद, जायसी-प्रसाद, मैथिलीशरण-हरिग्रौध, दिनकर-रामकुमार जैसे महा-काव्यकार है, न सूर-निराला, मीरा—महादेवी, पंत-कवीर, विद्यापति-वच्चन, विहारी-अज्ञेय जैसे स्फुट रचनाकार। व्यक्तिगत रूप से हम रामचरितमानस, पृथ्वीराजरासो, सूरसागर, कामायनी और दीपशिखा को इसी कोटि के संसार के किसी भी ग्रंथ से तुलना करने के लिए तैयार हैं।

इसके साथ ही हम इस तथ्य से भी अवगत हैं कि हमारे काव्य में वहुत कुछ ऐसा भी है जो साधारण कोटि का है।

भारतीय साहित्य और संस्कृति की एक विशेषता उसमें अध्यात्म-भाव की प्रधानता है। अतः अपने काव्य को हम दो कोटियों मे विभाजित कर सकते हैं—(१) लौकिक काव्य (२) अलौकिक काव्य।

अलौकिक काव्य के अंतर्गत एक ओर हैं सगुण के उपासक, दूसरी ओर निर्गुण के साधक। इस प्रकार एक ओर भक्ति-काव्य का विकास हुआ, दूसरी ओर रहस्यवादी काव्य का। भक्ति के अंतर्गत राम के उपासकों मे हम तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त, कृष्ण के उपासको मे सूर और मीरा तथा शिव के उपासको मे विद्यापति और प्रसाद के नाम ले सकते हैं। इनमे तुलसी की उपासना दास्य भाव की, सूर की सख्य भाव की और मीरा की मधुर भाव की है। भक्ति-काव्य के इनिहास को आँखों के सामने लाने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस दिशा मे तुलसीदास का दृष्टिकोण ही समीचीन है। भक्ति मे शृंगार का पुट देने से वह अमर्यादित होने लगती है। उसमे मर्यादा की वड़ी भारी आवश्यकता है। पवित्र और सूक्ष्म भावनाओ का ही उसमें प्राधान्य होना चाहिए। जहाँ वह लौकिकता की ओर मुड़ी कि उसका ह्रास हुआ। शृंगार की अतिशयता के कारण ही राम-भक्ति

का 'रसिक सम्प्रदाय' में और कृष्ण भक्ति का 'रीति-काव्य' के रूप मे पतन हुआ। और अब तो भक्ति का केवल नाम ही रह गया है। आधुनिक युग मे प्रसाद को शैव-काव्य का प्रणेता कहा जा सकता है; पर उनके काव्य मे भी भक्ति-भावना कम, दर्शन अधिक है। दूसरे शैव कवि विद्यापति की दशा तो और भी विचित्र है। शिव से संबंधित उनकी नचारियाँ जहाँ भक्त के हृदय की विह्वलता और दीनता को प्रकट करती है, वहाँ राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन अश्लीलता की सीमा को छूता हुआ घोर शृंगारी है। यह कम आश्चर्य की बात नही है कि एक ही कवि का हृदय एक देवता के प्रति शृंगार से आंदोलित और दूसरे के प्रति भक्ति से गद्‌गद हो। अतः काव्य में भक्ति-भावना के आदर्श गोस्वामी तुलसीदास ही हैं।

रहस्यवाद का एक रूप सिद्धों और नाथो की परम्परा से पुष्ट हठयोगी कबीर में पाया जाता है, दूसरा सूफ़ीमत से प्रभावित जायसी मे, तीसरा स्वच्छंद ढंग का महादेवी में। तीनो के काव्य की पृष्ठभूमि मे अद्वैतवाद है। इन तीनो मे मर्यादा का सबसे अधिक पालन महादेवी ने किया है। महादेवी के रहस्यवाद की एक विशेषता यह है कि वह कबीर और जायसी के काव्य के समान साम्प्रदायिक नही है। दर्शन और प्रेम के संयोग से उसकी सृष्टि हुई है। उसमे भावना और चिंतन का अपूर्व सामंजस्य पाया जाता है। इस प्रकार रहस्यवाद का चरम विकास महादेवी के काव्य मे ही हुआ है।

कुछ विशिष्ट कवियो को हिंदी के अन्य कवियो में अध्यात्म-भावना का प्रस्फुटन चेतना के विभिन्न स्तरो पर हुआ है। इनमे कुछ की भावना गहरी है, कुछ की उथली। इस भावना मे उनके युग का प्रभाव भी सम्मिलित है। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण गुप्त की भक्ति पर संदेह नही किया जा सकता, पर उनमे उस तन्मयता का अभाव है जो तुलसीदास मे पायी जाती है; अयोध्यासिंह उपाध्याय कृष्ण को एक

महापुरुष के रूप में देखते है; बिहारी राधा की वंदना करके भी उनके भक्त नही प्रतीत होते और रीतिकाल के अन्य कवियों तथा भारतेन्दु हरिश्चंद्र के कृष्णपरक-काव्य मे व्यक्तिगत प्रेम की अभिव्यक्ति के साथ शृंगार का गहरा पुट है ! रसखान का हृदय कृष्ण की क्रीड़ाओं और लीलाओं के वर्णन मे जहाँ डूब गया है, वहाँ रत्नाकर ने गोपियों के गंभीर विरह का वर्णन कुछ तटस्थता से किया है। पंत जी के नव-चेतनावाद मे कोरी कलात्मकता के दर्शन होते हैं। इस दिशा में उनकी तुलना कुछ-कुछ केशवदास से की जा सकती है जो भक्ति को भी कल्पना का खिलवाड़ समझते थे।

जहाँ तक निराला का संबंध है, वे शुद्ध अध्यात्मवादी भी हैं, रहस्य-वादी भी और भक्त भी। अपनी अभिव्यक्ति मे वे कहीं सफल हैं, कही असफल, पर उनकी भावना पर संदेह करने का कोई कारण नही प्रतीत होता।

अलौकिक काव्य इस प्रकार धर्म और दर्शन के क्षेत्र का काव्य है। लौकिक काव्य स्वभावतः इससे भिन्न है। इस काव्य को धरती का काव्य कह सकते हैं जिसमे नित्य प्रति के जीवन की समस्याओं को भाव की दृष्टि से देखा गया है।

काव्य मे कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिन्हें निश्चित अर्थ मे बाँधना कठिन है। उनमे से एक शब्द यह जीवन भी है। कविता जीवन के लिए है, यह तो ठीक है; लेकिन जीवन आखिर है क्या? क्या उच्चतर जीवन जीवन नही है; जैसा कि तुलसीदास उसे समझते थे, मीरा उसे समझती थी, महादेवी उसे समझती है? अतः अंतर इस बात पर निर्भर करता है कि जीवन को हम साधन मानते है या साध्य? इसकी सार्थकता क्या इस बात मे है कि इसे ईश्वर के चरणो में सम-र्पित कर दिया जाय या इस बात मे कि प्रार्थना का उपयोग भी सामान्य जीवन को सुन्दर बनाने के लिए किया जाय? मैं प्रारम्भ से ही दूसरी

वात के पक्ष मे रहा हूँ। जीवन से महत्त्वपूर्ण और कुछ नही है, ऐसा मुझे लगता रहा है। अतः जब हम जीवन की वात करते है तो धरती और आकाश के वीच जन्म से लेकर मृत्यु तक देह के कूलो में निरन्तर प्रवाहित होने वाली उस चेतना के वारे मे वात करते है जो अपने परिवेश से प्रभावित होती और उसे प्रभावित करती है, जो लौकिक सुख से पुलकित हो उठती है और पीड़ा से क्षुब्ध; जो संवेदनों का पुज है। इस लौकिक जीवन के प्रति विभिन्न कवियो के हृदयों की प्रति-क्रियाएँ विभिन्न प्रकार की हैं।

हिन्दी-काव्य का जन्म धनुष की टंकार और अस्त्र की खनखनाहट के वीच हुआ। जय-पराजय की यह गाथा आज तक दुहरायी जाती है। पृथ्वीराज की हार और महात्मा गांधी की विजय के वीच हमने न जाने कितनी वार संघर्ष मोल लिए हैं। विदेशियों के प्रवेश और विदे-शियों के निष्कासन के वीच इस संघर्ष के रूप वदलते रहे हैं। अतः लौकिक काव्य के अंतर्गत सवसे पहले तो यह संघर्ष का काव्य ही आता है, जिसे अतीत मे हमने वीर रस की कविता का नाम दिया और आधुनिक काल मे राष्ट्रीय भावना का। यह समस्त काव्य देश की मुक्ति का काव्य है। हम चाहे तो इसे भारतीय संस्कृति की रक्षा का काव्य भी कह सकते है। इस मुक्ति मे चंदवरदाई और भूषण का जितना योग है, उतना ही मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी और सुभद्राकुमारी चौहान का भी। इस दिशा मे निराला जी द्वारा प्रतिपादित मुक्ति के दोनों पक्ष अत्यन्त पुष्ट हैं। उनकी सांस्कृतिक चेतना उच्चतर स्तर और ओजपूर्ण रचनाएँ व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। इस युग मे मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' के समान निराला कृत 'तुलसीदास' सांस्कृतिक संघर्ष की विजय का दूसरा सोपान है।

प्रेम से सम्वन्धित भावनाओ की अभिव्यक्ति कुछ परोक्ष रूप मे हुई, कुछ प्रत्यक्ष रूप मे। प्रेम की भावना कही भक्ति, कही नायिका-

भेद, कहीं अध्यात्म, कही प्रकृति के पट से ढकी हुई है। वह प्रबंध-काव्यों, काव्य-रूपकों और वर्णनात्मक लम्बी रचनाओ मे भी व्यक्त हुई है; पर प्रेम की सीधी अभिव्यक्ति कम ही है। हिंदी मे शुद्ध प्रेम-काव्य कम पाया जाता है। यही बात अंग्रेजी और उर्दू-काव्य के लिए नहीं कही जा सकती। जाने हिंदू-हृदय प्रेम से क्यों डरता है? अश्लीलता से लेकर उदात्तता तक भावना के अनेक विकृत और परिष्कृत रूप हमारे काव्य मे पाए जाते हैं; पर 'बच्चन' जी को छोड़कर प्रेम को एक स्वाभाविक वृत्ति के रूप मे स्वीकार करने का साहस और किसी कवि ने नही दिखाया। भविष्य के कवि के लिए यह क्षेत्र एक प्रकार से अछूता ही पड़ा हुआ है। हिंदी मे बड़े चारण, बड़े रहस्यवादी, बड़े सूफ़ी, बडे वैष्णव, बड़े रीतिवादी, बड़े राष्ट्रप्रेमी, बड़े प्रगतिवादी और बड़े प्रयोग वादी हुए हैं; पर कोई बड़ा प्रेमी नही उत्पन्न हुआ। व्यक्तिगत प्रेम की बड़ी कहानी कभी किसी ने लिखी ही नहीं। हो सकता है, हमारे कवियो मे से बड़े संयोग और वियोग का अनुभव किसी ने न किया हो।

भारत प्रकृति की क्रीड़ा-भूमि है। उत्तर मे नगाधिराज हिमालय अपने गौरवशाली मस्तक को ऊँचा किए खड़ा है, शेष तीन दिशाओं मे विशाल समुद्र लहरा रहा है, इनके बीच गंगा-यमुना, सिंधु-ब्रह्मपुत्र, महानदी-गोदावरी जैसी पुण्य सलिलाएं प्रवाहित हो रही है, यहाँ-वहाँ रम्य घाटियाँ, घने जंगल और कमलो से भरे जलाशय हैं। सूर्य चंद्र नक्षत्र तो सभी देशों को आलोक-दान देते है; पर आकाश शायद ही कहीं ऐसा नीला और स्वच्छ, सूर्य शायद ही कही ऐसा उजला और स्वर्णिम तथा चंद्रमा शायद ही कही ऐसा सुन्दर और शीतल दिखाई देता हो। इतना होते हुए भी बीसवी शताब्दी से पूर्व हिंदी के किसी भी कवि को प्रकृति का कवि नही कहा जा सकता। प्रकृति-वर्णन के रूप में कही आध्यात्मिक संकेतों की भरमार है, कहीं उपदेशों की। उसका

उपयोग अधिकतर अलंकरण और उद्दीपन के रूप मे हुआ है। बारह-मासा और षट्-ऋतु वर्णन आदि में संयोग-वियोग की भावना मनुष्य के संयोग-वियोग पर निर्भर करती है। इस प्रकार प्राचीन-काव्य मे प्रकृति मनुष्य की छाया मात्र है। केवल सेनापति को अपवाद के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

आधुनिक-काल में प्रकृति को एक स्वतंत्र और चेतन सत्ता के रूप मे स्वीकार किया गया। खडी बोली के प्रसिद्ध कवियो मे से प्रत्येक ने प्रकृति-सौंदर्य के कुछ बड़े ही अछूते चित्र हमें दिए है। इस काव्य द्वारा प्रकृति के सहज स्वरूप से लेकर उसके गहनतम रहस्य के न जाने कितने रूपों का परिचय हमे होता है। इनमे द्विवेदी-युग के मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, गोपालशरण सिंह, और रामनरेश त्रिपाठी; छायावाद-युग के प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी और गुरुभक्तसिंह तथा उत्तर-छायावादकाल के नरेन्द्र शर्मा, अज्ञेय और नागार्जुन का अपना योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आकाश, समुद्र और धरती, पर्वत, वन और नदी, उषा, ज्योत्स्ना और छाया, पशु, पक्षी और सरीसृप, लता, पुष्प और घास मे से शायद ही कुछ ऐसा बचा हो जिसे हमारे कवियो ने स्वतन्त्र विषय के रूप मे प्रस्तुत न किया हो। इस युग मे प्रकृति को इतने रूपो, इतनी स्थितियो, इतने मनोभावो मे चित्रित किया गया कि उन सबका संक्षेप में उल्लेख करना दुष्कर कार्य है। सबसे महत्त्वपूर्ण है प्रकृति के उस मंगलमय रूप का ग्रहण जिसका आभास पंत जी की 'ज्योत्स्ना' और निराला के 'तुलसीदास' से मिलता है।

कला की दृष्टि से भी हिंदी-काव्य परिपूर्ण ही प्रतीत होता है। भाषा, अलंकार, छंद और रस की दृष्टि से वह किसी भी देश के काव्य से हीन नही है। ब्रज, अवधी और खड़ी बोली तीनो ने हमे कुछ प्रथम श्रेणी के कवि दिए हैं। मुक्तक और प्रबंध दोनों दृष्टियो से हिंदी-काव्य काफ़ी प्रौढ है। इनमे मात्रिक, वर्णिक और मुक्त छंद तीनो के प्रयोग

पूरी सफलता से किए गए हैं। बँगला, उर्दू, और अंग्रेजी छंदों को हिंदी ने अपने हृदय में स्थान दिया है। गजल, रुबाई, सानेट और ओड के प्रयोग अब साधारण बात हो गयी है। संसार के सभी देशों के श्रेष्ठतम काव्य की टेकनीक का अध्ययन कर नयी पीढ़ी के कवि सौंदर्य के नए प्रसाधनों का उपयोग अब मौलिक ढंग से करने लगे हैं।

सभी भाषाओं के काव्य के समान हिंदी-काव्य हमारे जीवन की परिस्थितियों की उपज है। उस पर निश्चित रूप से देश-काल का प्रभाव पाया जाता है; पर उस प्रभाव में हमारे सपने भी घुल-मिल गए हैं। वह भारतीय दृष्टि से अनुशासित ही नहीं, अनुरंजित भी है। उसमें भारतीय दर्शन, धर्म, राजनीति, मनोविज्ञान, नैतिकता, आचार-विचार प्रतिबिंबित है। वह भारतीय संस्कृति का एक अंग है। भारतीय कवि की प्रमुख विशेषता यह है कि वह सत्-असत्, शिव-अशिव, सुंदर असुन्दर में से सत, शिव, सुन्दर का पक्ष लेता रहा है। निराला इसी महान् परंपरा से सम्बद्ध एक महान् कवि थे।

प्रकृति

मनुष्य प्रकृति की गोद मे जन्म लेकर उसी की गोद मे चिर विश्राम लेता है। वह कही भी चला जाय, धरती आकाश, पर्वत समुद्र, वन उपवन, सरिता निर्भर से अपने को घिरा हुआ पाता है। सूर्य चंद्र नक्षत्र को वह उदित होते और डूबते देखता है पुष्प उसके उद्यान मे खिलते हैं, लताएँ उसकी दीवारो पर चढ़ी रहती है, पक्षी उसकी छत के मुंडेर पर आकर बैठते हैं। प्रति वर्ष वह वर्षा, शीत, वसंत और निदाघ के अविराम चक्र को घूमते देखता है। इतना होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि उससे वह अपना रागात्मक संबंध स्थापित कर ही ले। हिंदी के कवि प्रकृति के सौंदर्य के प्रति बहुत उदासीन रहे हैं। प्रकृति के प्रेमियो में प्राचीन काल मे हम सेनापति का नाम ले सकते है, और आधुनिक युग मे सुमित्रानंदन पंत का। संभवतः पंत जी पिछले बारह-सौ वर्ष के हिंदी-काव्य मे प्रकृति के सबसे बड़े कवि हैं। प्रकृति के प्रति ऐसा रागात्मक संबंध किसी दूसरे कवि का नही पाया जाता—प्रसाद, निराला और महादेवी का भी नही।

निराला का प्रकृति-वर्णन ऋतुओ, वस्तुओ, प्रतीक-विधान एवं अलंकरण तक सीमित है। यह दूसरी बात है कि इस सीमित परिधि मे जो कल्पनाएँ उन्होने की हैं, वे बड़ी अनूठी और रम्य हैं। निराला का सबसे प्रिय विषय है बादल, सबसे प्रिय ऋतु है वर्षा। 'परिमल' मे तो बादल-राग छः कड़ियो मे समाप्त हुआ ही है, 'नये पत्ते', 'बेला' और

'आराधना' मे भी वर्षा और बादल पर रचनाएँ संगृहीत है। वर्षा पर सबसे अधिक रचनाएँ 'गीत गुंज' मे है—एक दर्जन से भी अधिक। इस प्रकार कोई संकलित करना चाहे तो बादलों पर इनका एक छोटा-सा काव्य-ग्रंथ ही तैयार हो सकता है।

'बादल-राग' की रचना इन्होंने बहुत मनोयोग से की है। निराला के काव्य और व्यक्तित्व के जो दो पक्ष है—कोमल और कठोर—उनकी अभिव्यक्ति इस अकेली रचना से होती है।

प्रथम अंश मे ध्वन्यात्मक शब्दो की सहायता से बादलो की रोर की पुनर्सृष्टि की गई है। मेघो का जल सभी कही पर भर गया है और नद के समान कवि का हृदय भी हर्षाकुल है। उसका उत्साह तो यहाँ तक बढ गया है कि वह बादलो से अपने देश ले चलने की प्रार्थना करता है।

दूसरे अंश में बादल से प्रभावित होने वाले मूल कारण की व्याख्या कवि करता है। वह उसके निर्बंध स्वभाव पर मुग्ध है। उसके स्वभाव की स्वच्छंदता और उच्छृंखलता उसे प्रिय है। बादल सभी प्रकार की बाधाओ को तुच्छ सिद्ध करता हुआ आकाश मे विचरण करता है। वह अनंत अवकाश का सम्राट है। विद्रोही स्वभाव वाले बादल की असीम शक्ति से कवि यहाँ तक प्रभावित है कि जिस बात को लेकर उसकी प्रशंसा उसे नही करनी चाहिए थी, उसकी भी उसने की है। बादल अपनी रोर से कलियों और पत्रों को कंपित करता है, नीड़ो मे बैठे पक्षियों को भयभीत करता है, पर कवि ने इन निरीह वस्तुओ और जीवो की स्थिति की चिंता न कर, सृष्टि मे व्याप्त आतंक के परिणाम से उदासीन रहने की वृत्ति की प्रशंसा की। आतंक आततायी के विरोध मे ही सुंदर लगता है, कोमल और कमनीय के विरोध मे नही।

तीसरे अंश मे कवि ने बादल की तुलना अर्जुन जैसे वीर से की है। इंद्रधनु ही उसका धनु है, गगन की गड़गड़ाहट उसके रथ का घर्घर

रव। यह ठीक है कि उसमे विश्व-विजय करने की शक्ति है; पर उसके स्वभाव के कोमल पक्ष को भी उसने उभारकर रखा है। पहला गुण है उसकी सेवा-परायणता। वह संसार को जल का दान देकर उसकी वास्तविक सेवा करता है। कोमलता की दूसरी व्यंजना व्यक्तिगत है। स्वर्ग के प्रवास-काल की समाप्ति पर आज वह श्यामा के अधरो की प्यास मिटाने आया है।

चौथे अंश मे बादल की कल्पना कवि ने प्रकृति के मुक्त आँगन मे क्रीड़ा करने वाले एक चंचल बालक से की है। यह शिशु अंधकार मे किलकारियाँ भर रहा है, विद्युत् इसके घुंघराले बालों मे झलक उत्पन्न कर रही है और किरणे उसके मुख को आलोकित कर जाती हैं। वह एक ऐसा गायक है जो इंद्रधनु के सप्तक पर मुक्त कंठ से किसी राग को छेड़कर वर्षा के झर-झर रव से मधुर प्रपात को विश्व के कानों मे उड़ेल रहा है।

पाँचवे अंश में बादल को कार्य-कारण से परे उस निराकार ब्रह्म के रूप मे देखा गया है जिसकी वंदना सूर्य चंद्र तारे करते हैं और जो कवियो का प्रेरणास्रोत है। उसकी श्यामता नयन का वह अंजन है जो ज्ञान का प्रदाता है।

छठे और अंतिम अंश मे बादल के दुहरे व्यक्तित्व को चित्रित किया गया है। रचना की सारभूमि इसी मे निहित है, इसी से यह सभी अंशों की अपेक्षा प्रभावशाली बन पड़ा है। बादल का घोर गर्जन जहाँ महलों मे अपनी प्रियतमाओं के पास लेटे धनिकों के हृदय को भय से भर देता है, वही वह कृषको को पुलकित भी करता है। एक ओर जहाँ वह वज्रपात से शृंगो को तोड़फोड़ कर पर्वतो के शरीर को क्षत-विक्षत कर डालता है, वहीं वह वर्षा के जल से पृथ्वी के भीतर अंकुरो को उगाता है और पौधो को हँसाता है। बादल के विप्लवकारी स्वभाव की एक विशेषता यह है कि उससे अन्यायी आतंकित होते है और छोटे विकास

का मार्ग पाते हैं। यह अंश गहरी और सच्ची प्रगतिशील भावना का परिचायक है।

'बादल-राग' के प्रत्येक अंश पर शीर्षक देकर यद्यपि कवि ने इन्हें अलग-अलग रचना माना है, पर हम इसे एक लंबी कविता भी मान सकते है। इसके पहले अंश मे कवि बादल का स्वागत करता है, दूसरे मे उसके विप्लवी रूप को पहचानता है, तीसरे मे उसकी सेवा-वृत्ति को उभारकर रखता है, चौथे मे उसकी निर्द्वन्द्वता का परिचय देता है, पाँचवे में उसकी तुलना ब्रह्म से करता है और छठे में उसके महत्त्व का प्रतिपादन है। यों प्रत्येक अंश में किसी विशेष गुण का उल्लेख है; पर ये गुण एक ही वस्तु के है। हम चाहे तो उनमें एक तारतम्य भी स्थापित कर सकते हैं। निराला ने उन्हे भिन्न रचनाएँ इसलिए माना हैं कि वे विभिन्न कालों मे लिखी गयी है जैसे—

(६) तिरती है समीर सागर पर (१९२०)
(४) उमड़ सृष्टि के अंतहीन अंबर से (१९२३)

'बादल-राग' निराला की प्रसिद्ध रचनाओ मे से है। इनके काव्य की विशेपताओं की जब चर्चा करनी होती है तो 'तुलसीदास' 'राम की शक्ति-पूजा' 'सरोज स्मृति' और 'कुकुरमुत्ता' के साथ इसका भी उल्लेख होता है। जैसा अभी कह चुके हैं यह कविता निराला के काव्य और व्यक्तित्व के दो विरोधी पक्षो को समान पटुता से प्रस्तुत करती है। कवि ने कहा ही है—अहो, कुसुम-कोमल कठोर पवि। इसकी दूसरी विशेपता यह है कि इसका प्रत्येक अंश अपने मे एक सम्पूर्ण चित्र है और ये छहो चित्र एक बड़े चित्र की रचना में सहायक होते है। तीसरे, यह कवि की प्रगतिशील प्रवृत्ति की परिचायिका है। प्रगतिवादी आंदोलन तो बहुत बाद (सन् १९३५) में प्रारंभ हुआ। निराला ने पंद्रह वर्ष पूर्व ही उसकी भूमिका तैयार कर दी थी।

'बादल' शीर्षक से इसी काल (१९२२) की एक रचना औ

सुमित्रानन्दन पंत की है। दोनों मे से कौन श्रेष्ठतर है, यह कहना कठिन है। दोनों दो दृष्टिकोणों से लिखी गयी हैं। निराला ने बादल के विशिष्ट रूप कों देखा है, पंत ने सामान्य रूप को। निराला ने एक ही इंद्रधनु को बीच में डालकर एक ओर उसे 'त्रिलोकजित' कहा है, दूसरी ओर 'मुक्त गान का गायक'। बादल को 'सिंधु का अश्रु', 'अनंत का शिशु', 'तरु का सुमन' आदि कहना काफी उर्वर कल्पना का द्योतक है। पंत जी का बादल ऐसी रम्य कल्पनाओं का भाडार है। चित्र दोनों के ही बडे सजीव हैं। निराला की रचना जहाँ हमारी चेतना को उद्बुद्ध करती हैं, वहाँ पंत जी की आनन्द-मग्न। निराला के वक्तव्य का सार इन पंक्तियों में सिमट आया है—

> अंगना-अंग से लिपटे भी
> आतंक-अङ्क पर काँप रहे है
> धनी वज्र-गर्जन से बादल !
> त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
> हँसते हैं छोटे पौधे लघुभार—
> शस्य अपार,
> हिल-हिल,
> खिल-खिल
> हाथ हिलाते,
> तुझे बुलाते,
> विप्लव-रव से छोटे ही है शोभा पाते।

'बेला' और 'नये पत्ते' मे वर्षा पर जो रचनाएँ है उनमें प्रकृति का यथातथ्य चित्रण है। बात एकदम सीधे कह दी गयी है। कल्पना का सहारा नहीं लिया गया। फूलों मे बेला, जुही, कमल; वृक्षो मे आम, पीपल तथा पशु-पक्षियों में गाय, भैंस, हिरन और मोर का उल्लेख है।

कवि की दृष्टि विशेष रूप से गाँवों की ओर गयी है। वहाँ के वातावरण का चित्रण उसने कई प्रकार से किया है। बाहर दृष्टि पड़ती है तो ज्वार, अरहर, मूँग, उड़द, सन और धान के खेत दिखाई पड़ते है। कही युवक अखाड़ो मे कुश्तियाँ लड़ रहे है, कही गाँव की लड़कियाँ बारहमासा गा रही हैं, कही लोग देश-प्रेम की चर्चा मे लीन है, इस सबके ऊपर आँखों को सुखद लगने वाली हरियाली, शरीर को रोमांचित करने वाली पुरवाई और नदी, नालो, सरोवरों को भी कवि विस्मरण नही कर पाया है—

(१) कानों में बातें बेला और जुही करती थीं,
नाचते मोर, झूमते हुए पीपल देखे।
—बेला

(२) घने-घने बादल हैं
एक ओर गड़गड़ाते;
पुरवाई चलती है;
तालों में करँबुए,
कोकनद खिले हुए;
ढोर चरते हुए;
कहीं हिरनों का झुंड;
आम पकते हुए,
नाले बहते हुए,
युवक अखाड़ों में जोर करते हुए।
—नये पत्ते

'गीत गुंज' की रचनाओं मे कुछ तो अन्य रचनाओ की अनुगुँज है—वही हरियाली, वही पुरवाई, वे ही पुष्प। लेकिन दृष्टिकोण कुछ बदला हुआ है। अभिव्यक्ति कुछ अधिक काव्यात्मक हो गयी है। रच-

नाओं में संगीत-तत्व का प्राधान्य है। प्रकृति के सौंदर्य की ओर अब कवि की दृष्टि अधिक है। वर्षा को वह एक सुन्दर रमणी के रूप में देखने लगा है। मेघ एवं विद्युत् अब उसे केश और कटाक्ष के रूप मे दिखाई देने लगे हैं। वातावरण अधिक संश्लिष्ट और सजीव है। घने अंधकार मे बिजली के चमकने, बादलों के गरजने, फुहारों के पड़ने और नीम के हिंडोलो मे कजली-मलार के गाए जाने की चर्चा बार-बार हुई है। कवि ने रीति-कालीन परिपाटी का निर्वाह करते हुए विरह मे मदन के सताने और अंत में प्रतीक्षा-रत नायिका के पास प्रियतम के लौटने का उल्लेख भी किया गया है। 'चौमासा' एक ऐसी ही परंपरा-विहित रचना है। इन गीतो मे लोक-मंगल की भावना पूरी-पूरी पायी जाती है। कवि केवल ऐसी कामना ही नही करता कि वर्षा मंगलदायी हो, वरन् उसने लोक को उत्सव मनाते भी देखा है। इस प्रकार वर्षा का पूरा प्रभाव उसके मानस मे रक्षित है—

(१) मालती खिली, कृष्ण मेघ की।
उग आये अंकुर जीवन,
धान, ज्वार, अरहर औ' सन
वही पुनः गंध से पवन
पके आम की।

—गीत गुंज

(२) यह गाढ़ तन, आषाढ़ आया, दाह-दमक लगी, जगी री,—
रैन चैन नहीं कि बैरिन नयन नीर-नदी बही री।
फिर लगा सावन, सुमन भावन, झूलने घर-घर पड़े,
सखि चीर सारी की सँवारी झूलती झोंके बड़े।
फिर भरा भादों, धरा भीगी, नदी उफनाई हुई;
री, पड़ी जी की, प्राण-पी की सुधि न जो आई हुई,

खर दवार कंत विदेश छाये, कनक ही के वश हुए,
कह कौन सी परतीत जो की शपथ, कर मेरे छुए ?
—आराधना

अन्य ऋतुओं में शरद, शिशिर और वसंत का वर्णन पाया जाता है। ये वर्णन परिचयात्मक अधिक हैं। शरद के लगते ही श्वेत बादल आकाश मे तैरने लगे, उजले तारे उदित होने लगे, पुरवाई बंद हो गयी, हरसिंगार के फूल झरने लगे, खंजन इधर-उधर दिखाई देने लगे और खेतो मे हल चलने लगे। शिशिर मे तुषार-पात हो रहा है, वृक्ष पत्र-हीन हो गए हैं, जल और पवन इतने ठंडे हो गए हैं कि सहन नही हो पाते, फिर भी रमणियो का रूप निखर आया है। वसंत के आगमन पर वृक्षो मे नयी कोंपलें आ गयी है, समीर वह रहा है, आम्र मे मौर आगया है, भौरे गूंज रहे हैं और तितिलियाँ फूल-फूल का रस ले रही हैं।

इस प्रकार निराला जी ने यद्यपि सभी ऋतुओं का थोडा-बहुत वर्णन किया है; लेकिन वर्षा के जैसे पूर्ण चित्र उनकी रचनाओं मे पाये जाते हैं, वैसे अन्य ऋतुओं के नही। अन्य ऋतुओं का उल्लेख उत्तर-कालीन कृतियों मे अधिक है, जहाँ कला की भूमि से उतरकर उनका झुकाव सीधे-सादे वर्णनों की ओर अधिक हो गया था। ये वर्णन हमारे हृदय को गहराई से नही छू पाते।

ऋतु-वर्णन की दृष्टि से इनकी एक ही रचना सफल कही जा सकती है; लेकिन वह वर्णन उस रचना का लक्ष्य नही है, अंग मात्र है। रचना का शीर्षक है—'देवी सरस्वती'। इसमे ऋतु वर्णन के आधार पर कवि ने भारतीय जीवन—विशेष रूप से ग्रामीण जीवन—की झाँकी दिखाने का प्रयत्न किया है। रचना मे प्रत्येक ऋतु मे पायी जाने वाली वस्तुओ और उन वस्तुओ का हमारे जीवन से संबंध और

फिर उस संबंध का हमारे जीवन पर प्रभाव अंकित किया गया है। इस प्रकार प्रकृति और जीवन के सौंदर्य की एकाकारिता इस रचना मे सबसे अधिक प्रतिफलित हुई है। पर्व-त्योहार और देवी-देवताओं के पूजन आदि के उल्लेख मे कवि की सामाजिक-भावना के दर्शन होते हैं। प्रकृति का वैभव ही अंततः जीवन का वैभव है, प्रकृति का आनन्द ही जीवन का आनन्द, ऐसा कवि का संकेत प्रतीत होता है। यो चौमासा-वर्णन की भाँति यह षट्ऋतु-वर्णन भी एक रूढि का पालन मात्र है।

प्राकृतिक तत्वो मे निराला जी का जल के प्रति आकर्षण अधिक है। वर्षा का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। तरंग, प्रपात और नदी पर जो रचनाएँ पायी जाती हैं, वे इस आकर्षण की पुष्टि करती है। प्रपात गिरि के हृदय से फूटकर बाधाओ को पार करता हुआ निरंतर बढता चला जा रहा है, नदी नाव से खेल रही है, तरंगें अपनी बाहे उठाकर रह जाती है। ये सब न जाने किससे मिलने के लिए आतुर है! इस मानवीकरण मे कवि ने प्रकृति की वस्तुओ को स्त्री अथवा पुरुष का रूप तो प्रदान किया ही है, उनके अंतर की भावनाओ को भी पहचाना है। इस प्रकार उन्हे सजीवता प्रदान कर छायावादी मनोवृत्ति के अंतर्गत लाकर रख दिया है। साथ ही उन्होंने उन्हे एक विराट् तत्त्व से सम्बद्ध कर दिया है। प्रपात हँसता हुआ अजान की ओर बहता है, तरंगें असीम की ओर जा रही है।

यमुना वाली रचना कुछ अधिक लबी हो गयी है। यह एक संबोध-गीति है जिसमे कवि यमुना से अनेक प्रश्न पूछता हुआ पौराणिक-काल के एक वैभवमय युग का पुनर्निर्माण करता है। यह वही यमुना है जिसके किनारे कृष्ण छोटे से बड़े हुए थे। राधा-कृष्ण को और किसी ने देखा हो अथवा न देखा हो; पर यमुना ने तो उन्हे अपनी आँखो से देखा ही था। कितना काल व्यतीत हो गया है तब से और कितने परिवर्तन हो गए हैं तबसे इस विशाल देश के जीवन मे! वह काल

क्या अब लौटाकर लाया जा सकता है ? अतीत के प्रति ऐसी ही ललक पंत जी की 'परिवर्तन' शीर्षक रचना में भी पायी जाती है।

इस कविता मे राधा-कृष्ण युग के वैभव, सौंदर्य, विलास और संगीत-प्रेम को बार-बार स्मरण किया गया है। कृष्ण का चरित्र तो ऐसा है कि वह कवियों की कल्पना में पंख लगा देता है; फिर भी यह रचना कुछ छोटी होती, तो अधिक प्रभावशालिनी होती, ऐसा हमारा विचार है। 'अतीत' शब्द का प्रयोग इसमें आवश्यकता से अधिक हुआ है। सभी छंद समान रूप से व्यंजक नही है और कुछ से तो कोई चित्र ही नहीं उठ पाता।

रचना में दुहरी तन्मयता पायी जाती है—पहली यमुना की, दूसरी कवि की। यमुना तो आज भी चंद्रमा मे उस मुख को, ज्योत्स्ना मे गोपियों के कमनीय गात को, खंजनों मे उन बडे रसीले चंचल नयनों को, तारों मे वक्ष पर हिलते हारों के मोतियों को प्रतिबिंबित पाती है। ऐसी दशा मे अतीत की स्मृति से वह कैसे छुटकारा पा सकती है ? कवि इस स्मृति के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। इस प्रकार यह पूरी रचना 'निराला' की अतिशय भावुकता की परिचायक है। कुछ पंक्तियाँ तो बड़ी ही सुचित्रित बन पड़ी है जैसे—

बता, कहाँ अब वह वंशीवट,
कहाँ गए नटनागर श्याम ?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृंदाधाम ?

कहाँ छलकते अब वैसे ही
व्रज-नागरियों के गागर ?
कहाँ भीगते अब वैसे ही
बाहु, उरोज, अधर, अम्बर ?

जल-तत्व के उपरांत प्रकृति में दूसरा आकर्षण निराला जी का फूलों के प्रति है। फूलों से वहुत सीमित-सा परिचय उनका है। पंत जी के समान योरोपियन फूलों की चर्चा उनके काव्य मे कही नही पायी जाती। कुछ फूलों पर उन्होने स्वतन्त्र रचनाएँ भी लिखी है और वे सभी प्रसिद्ध है जैसे जुही, शेफालिका, वेला, नर्गिस।

'जुही की कली' इनकी पहली रचना है। इसके माध्यम से इन्होंने प्रकृति के तत्त्वों के वीच उन्मुक्त-प्रेम की स्थापना की है। इसमे जुही नारी है, पवन पुरुष। पवन यद्यपि परदेश मे है, पर वह दूर खिली जुही के यौवन-सौदर्य से परिचित है। एक दिन प्रकृति का उद्दीपनकारी प्रभाव अपना मायाजाल फेंकता है और वह उतावला होकर प्रिया के देश लौटता है। आते ही उसे सोते से जगाकर उसके साथ केलि करता है। जुही कुछ कहती नही, पर इतना स्पष्ट है कि आनन्द का अनुभव वह भी समान रूप से करती है। एक ओर सुन्दरता, दूसरी ओर उद्दाम भावना, वीच मे पृष्ठभूमि की मादकता—भोग के सारे उपकरण एकत्र हैं। पवन अपनी सुकुमार प्रेयसी के साथ कोमलता का व्यवहार नही करता। वह झोंके की झड़ियो से उसकी देह को झकझोर डालता है, गोरे कपोलो को मसल देता है। यह निर्दयता आनंदप्रदायिनी है। यौवन-काल मे सभी तरुणियो को इस परुषता का सामना विवशता से करना पड़ता है। शायद वे इसे पसंद भी करती हैं।

प्रकृति को ओट मे मानव-जीवन का यह मधुरतम प्रसंग है। रीति-काल की प्रतिक्रिया मे द्विवेदी-युग ने संभोग के वर्णनो का विरोध किया था। उससे सदाचारमूलक एवं उपदेशात्मक रचनाओ की वृद्धि तो हुई; पर काव्य मे शुष्कता भी वढ़ चली। संभवतः इसी से छायावादी कवियो ने अपने मन की वासना को व्यक्त करने के लिए प्रकृति का आवरण चुना। 'जुही की कली' इसका उदाहरण है। इसमे से यदि जुही और पवन के नाम हटा दें, तो फिर यह सीधी काम की भूमिका

बन जाती है। संभव है यह मलयानिल बंगाल मे प्रवासी के रूप में रह रहा हो और जुही की कली डलमऊ मे खिली हो; फिर भी पवन और जुही से तात्पर्य यहाँ सामान्य तरुण-तरुणी का ही लेना चाहिए।

निराला जी ने इस रचना के सौन्दर्य की बारीकियों की प्रशंसात्मक व्याख्या एक स्थान पर की है। किसी ने आपत्ति की होगी कि जुही तो वर्षा का फूल है, फिर उसे वसंत मे क्यों खिला दिया ? निराला जी ने इसका समाधान करते हुए लिखा, "कविता बंगाल मे लिखी गयी है। वहाँ मलय पवन बहता है, यहाँ, युक्त-प्रांत में नहीं। वसंत में जुही युक्त-प्रात में नहीं खिलती, ग्रीष्म वर्षा में खिलती है। बंगाल मे ऋतु कुछ पहले आती है।" कुछ भी हो, कविता पढते समय पाठक का ध्यान ऋतु-सम्बन्धी दोष की ओर जाता ही नही, यद्यपि फूलो के वर्णन मे इस बात का ध्यान सदैव रखना चाहिए कि वे किस ऋतु मे खिलते हैं। ऐसी भूलें और भी छायावादी कवियों से हुई है। दूसरी बात निराला जी ने इसके संबंध मे यह कही है,— "उत्कृष्ट कला का एक उदाहरण 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की काव्य मे उतारी हुई यह तस्वीर है या नहीं, परीक्षा करें ? यहाँ 'सुप्ति' तम और 'प्रिय परिचय' ज्योति है।" हमारा स्पष्ट मत है कि कविता को बार-बार बढ़ने पर भी उससे यह आशय व्यंजित नहीं होता कि जुही के प्रसंग मे निद्रा अज्ञान और जगना ज्ञान का प्रतीक है। तरुणियों का सोना और जगना दोनों ही आनंद के दो रूप है। यह ठीक है कि कवि से अधिक उसके काव्य के आशय को दूसरा व्यक्ति नही समझता; पर हमारी दृष्टि से निराला जी का यह अनुबोध मात्र है। इसमे ऊर्ध्वमुखी चेतना की कोई बात प्रतीत नही होती, यद्यपि इतना हम भी स्वीकार करेंगे कि उत्कृष्ट कोटि की यह एक ऐसी चित्रमयी रचना है जिसकी एक-एक रेखा सजीव है, एक-एक रंग खिलता हुआ।

'शेफालिका' भी प्रकृति के क्षेत्र मे एक वासना-प्रधान रचना है।

इसकी प्रेरणा 'जुही की कली' वाली रचना से ही मिली प्रतीत होती है, क्योकि दोनो मे कुछ बातों की समानता है। दोनो ही पत्रांक पर सोती है, दोनों ही रस-भोग के योग्य अवस्था वाली हैं, दोनो ही का यौवन उभार पर है—शेफालिका का जुही से कुछ अधिक, क्योंकि उसकी तो चोली के बंद तक खुल-खुल जाते है। दोनों के कपोलों पर कवि की दृष्टि है—एक के कपोल मसल दिए जाते है, दूसरी के कपोलो पर न जाने कितने मधुर चुंबन अंकित होते हैं। एक का प्रेमी पवन है, दूसरी का गगन। एक के साथ केवल काम-क्रीड़ा का उल्लेख है—यद्यपि उसमे तृप्ति भी सम्मिलित है; दूसरी तृप्त-काम होकर विदा लेती है। यौन-भावना 'जुही' की अपेक्षा 'शेफालिका' वाली रचना मे अधिक मुखरित है।

'वन-बेला' एक काव्य-कथा है। इसके प्रारंभ मे कवि ने ग्रीष्म के ताप और आँधी का सुंदर वर्णन किया है। यहाँ आतप के समावेश की दुहरी सार्थकता है—पहली यह कि वह कवि के जीवन से मेल खाता है; जैसे धरती, वैसे ही वह भी दुःख के ताप से विकल है—कवि जीवन के श्रम से आकुल होकर ही नदी किनारे टहलने जाता है: दूसरे, जिस वन-बेला की वह चर्चा करने जा रहा है, वह निदाघ मे ही खिलती है। जीवन की असफलता के कारण कवि के मन मे हताश-भावना का जन्म होता है। हताश-भावना निराशा से कुछ भिन्न होती है। वह मनुष्य को दबा देती है। व्यक्ति को वह काल्पनिक तो बना सकती है, पर विद्रोह की ओर नही ले जाती। यहाँ भी यही हुआ है। कवि मे विद्रोह का भाव नही जगता। वह कल्पनाशील हो जाता हैं। इस कल्पना मे उसका मन न जाते कहाँ-कहाँ उड़ा फिरता है। यदि मै राजपुत्र होता या मेरे पिता देश की राजनीति को प्रभावित करने वाले कोई पूँजीपति ही होते ! मेरी शिक्षा यदि विदेश मे हुई होती तो वायु-यान से भारत-भूमि पर उतरते ही मेरा कितना सम्मान हुआ होता !

सब पत्रों में मेरे चित्र प्रकाशित होते और ऐसा क्या था जो देश के पत्रकार मेरी प्रशंसा में न लिखते ! हताश-भावना से उत्पन्न कल्पना प्रायः ऐसी ही तुलनाओं की ओर ले जाती है। तुलना इस बात में है कि एक मैं हूँ कवि—जिसने जीवन भर साधना की और बदले में कुछ भी नहीं पाया और दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जिन्होंने अपनी परि-स्थिति से लाभ उठाकर सब कुछ हस्तगत कर लिया है। बहुत स्पष्ट लिखने और 'हिन्दी-सम्मेलन' पर छींटा फेंकने से यह व्यंग्य कुछ व्यक्ति-गत हो गया है, यद्यपि नाम इसमें किसी का नहीं लिया गया।

निराला जी के प्रति न्याय करने के लिए हम इतना अवश्य कहेंगे कि इसमें ईर्ष्या की गंध हमें नहीं दिखाई देती, यद्यपि हम यह भी कहने के लिए विवश हैं कि यह आक्षेप; असंगत है। दूसरी ओर की असाधारण सफलता के पीछे जो सत्य निहित है, उसे उन्होंने दबा दिया है जैसा कि व्यंग्य में आक्रमण करते समय प्रायः होता है।

इसके उपरांत कहानी एक नया मोड़ लेती है। वह मोड़ बहुत महत्त्वपूर्ण है। ग्रीष्म के वर्णन के पश्चात् एकदम इस तुलना पर आने के कारण सामान्य पाठक यह सोच ही नहीं पाता कि आगे क्या होगा।

इस चिंतन में तीसरा प्रहर व्यतीत हो जाता है और सन्ध्या की लालिमा चारों ओर फैल जाती है। कवि को लगता है जैसे प्रेयसी की केशराशि से फूटी गंध उसे मुग्ध कर गयी हो। लेकिन वह तो अकेला ही टहलने आया है, फिर यह गंध आयी तो कहाँ से आयी ? ठीक इसी समय वह चकित होकर देखता है—पास में वन-बेला खिली हुई है—बेला जो ग्रीष्म में सिर उठाकर खड़ी रहती है और मुरझाने के स्थान पर आसपास सुषमा बिखेरती है। वह उससे प्रश्न करता है : जहाँ किसी की दृष्टि न पड़ सके, ऐसे वन में खिलने से क्या लाभ है, बेला ? भला, यहाँ गंध विकीर्ण करने से जीवन की कौन-सी सार्थकता सिद्ध होती है ? सहसा कोयल कूकती है, पपीहा पुकारता है, तारे निकल

आते हैं। वेला बहुत सीधा-सा उत्तर देती है : तुम अब तक लौकिक-वैभव की दृष्टि से सोचते रहे हो, आत्मा के आनंद की दृष्टि से नही। भौतिक सुख और आत्मिक सुख का विरोध है। बाहर की वस्तुओ की चमक के प्रति व्यक्ति का आकर्षण ज्यों-ज्यों बढता जाता है, त्यों-त्यो आत्मा की आभा मलिन पड़ने लगती है। जो कलाकार है उसे संसार से आत्मा को अधिक महत्त्व देना चाहिए। जीवन मे झूठी मान्यताओं को प्रश्रय मिल गया है। सम्मान को मूल्य के रूप मे स्वीकार करने पर छोटे-बड़े का अंतर दिखाई देता है, पर ज्ञान की दृष्टि से सब समान हैं। वन मे हम सब एक दूसरे को अपना सुहृद समझते है। कवि की समझ मे यह बात आजाती है और वह शात मन से अपने निवास-स्थान को लौट जाता है। दूसरे दिन प्रभात-काल मे जब वह उधर से फिर निकलता है तो देखता है कि एक ब्राह्मण डाल झुकाकर पूजा के लिए उसी फूल को तोड़ रहा है। वेला जैसे कह रही है—देखो, मैं देवता के चरणो पर अर्पित होने जा रही हूँ—पूरी खिलने के उपरांत, सतुष्ट-भाव से। अब बतलाओ, जीवन की सार्थकता वाले तुम्हारे प्रश्न का उत्तर हुआ या नही ?

'वन-वेला' अंततः एक उद्बोधन-प्रगीत है जिसमे लौकिक और आत्मिक मूल्यों के तुलनात्मक महत्त्व का प्रश्न उठाया गया है। कवि का अंतिम झुकाव आत्मिक मूल्यों की ओर है। कविता के अंत मे उसकी विषाद की वृत्ति मिट जाती है और वह अपने अंतर्द्वन्द्व का उत्तर जैसे पा लेता है। अवसाद की ऐसी मनोवृत्ति और कवियो को भी घेरती है। इस मनोवृत्ति ने पंत जी को 'अतिमा' की 'संदेश' शीर्षक रचना मे घेरा है। दोनों ही अपने ढंग की सफल रचनाएँ है।

'नर्गिस' शीर्षक रचना भी तुलनात्मक मूल्यो का प्रश्न उठाती है। इसमे धरती की नर्गिस से आकाश की ज्योत्स्ना की तुलना की गयी है। प्रश्न यह है कि जो आकाश से उतरकर धरती पर छा जाय वह

अधिक सुन्दर है अथवा जो धरती के अंधकार को चीरकर अपनी गंध से आकाश को परिपूरित कर दे वह ? नर्गिस वसंत का फूल है और चाँदनी के समान ही श्वेत है । शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से वह उससे कम नही । वह अंधकार से संघर्ष करती हुई गंध का दान देती है— नीचे से ऊपर उठती है । इस दृष्टि से वह चाँदनी की तुलना मे अधिक स्वर्गीय है । स्वभावतः कवि नर्गिस के पक्ष मे है । यहाँ भी बाह्य सौदर्य की तुलना मे आंतरिक सौदर्य एवं भौतिक मूल्यों की अपेक्षा आत्मिक मूल्यो को अधिक महत्त्व दिया गया है ।

जुही, शेफालिका, वन-बेला और नर्गिस चारो रचनायें काव्य-कथाएँ हैं अर्थात् इनमे कहानी का पुट है । प्रमुखता कहानी की नही, भाव या संकेत की है । कहानी का सहारा वही तक लिया गया है, जहाँ तक वह कवि के किसी आशय को व्यंजित कर सके । फूलो की यो सभी क्रियाएँ सूक्ष्म होती है, फिर भी जुही और शेफालिका मे शारीरिक सुख व्यंग्य है, बेला और नर्गिस मे आत्मिक उल्लास । चारों मे ही संध्या अथवा रात के वातावरण का चित्रण है । इससे वे रचनाएँ अधिक कलात्मक हो गयी है । वातावरण इन रचनाओ का प्राण है । कवि हमे स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाता है; अतः मूल रूप मे ये रचनाएँ कोमल-भावा-पन्न हैं । पर पाठक की दृष्टि स्थूल संकेतों पर कुछ न कुछ उलझती ही है और वह बीच-बीच मे उस लौकिक सुख का भी अनुभव करता है जो रति की विभिन्न भूमिकाओ मे स्थूल इंद्रियो द्वारा प्राप्त होता है । उदा-हरण के लिए इन पंक्तियो को लीजिए—

(१) वर्ष का प्रथम
पृथ्वी के उठे उरोज मंजु पर्वत निरुपम ।

—वन-वेला

(२) बंद कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से
यौवन-उभार ने
पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालि के।

—शेफालिका

(३) निर्दय उस नायक ने,
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिए गोरे कपोल गोल।

—जुही की कली

प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से दो रम्य स्थानों—चित्रकूट और कैलाश—का वर्णन निराला जी ने किया है। दोनो रचनाएँ 'नये पत्ते' मे संगृहीत हैं। चित्रकूट वाली रचना का शीर्षक है—स्फटिक शिला।

इस रचना मे निराला जी अपने मित्र रामलाल के साथ चित्रकूट-दर्शन को जाते है। रामलाल काल्पनिक नहीं, वास्तविक नाम है। निराला जी इन्हे अपना मित्र मानते थे और इनके यहाँ कुछ दिन रहे थे। कर्वी से लेकर चित्रकूट तक की यह यात्रा बैलगाड़ी से होती है। गाड़ी मे दो बैल हैं। एक का नाम है साँवलिया, दूसरे का धौला। धौला गरियार है। बायी ओर जुता हुआ है। वह बहुत धीरे-धीरे चलता है और गाड़ी को मुख्य मार्ग से लेकर प्रायः बायी दिशा मे मोड़ देता है। वह कभी जुआ उतार कर खड़ा हो जाता है, कभी गाड़ी को दलदल मे फँसा देता है, गाँव के बीच से निकलता है तो किसी का कच्चा चबूतरा तोड़ देता है। बैलगाड़ी का ऐसा रोचक वर्णन कविता में शायद ही कहीं पाया जाता हो। सारे रास्ते जैसे गाड़ी के पहिए घूमते दिखाई देते हैं।

इस यात्रा-वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि दर्शनीय स्थानों और ध्यान आकर्षित करने वाली वस्तुओं का उल्लेख भी हो गया है

ग्रौर कही ऊब उत्पन्न नहीं होती। किलों मे पेशवा के क़िले, पहाड़ो मे कामदगिरि ग्रौर पंचकोसी, गाँवो मे कर्वी, नया गाँव ग्रौर सीतापुर, नदियों मे पयस्विनी, मंदाकिनी ग्रौर गुप्त गोदावरी, जलाधारो में जानकी-कुंड, भरतकूप ग्रौर हनुमद्धारा, वनो मे प्रमोद वन, ग्राश्रमों मे ग्रत्रि-ग्रनुसूया-ग्राश्रम का उल्लेख ऐसा ही है। इसके ग्रतरिक्त वृक्षो मे ग्राम, बबूल, ग्रर्जुन; पशु-पक्षियो मे स्यार, मयूर ग्रौर बंदर; साथ ही झाड़ियो, टीलो, कुटियाग्रो ग्रौर गुफ़ाग्रों ग्रादि की चर्चा कर उस ग्रंचल के वर्णन को प्रामाणिकता प्रदान की गयी है। बघेलखंड की भयंकर प्रकृति का यह वर्णन देखिए—

> साँप बड़े जहरीले, टीलों पर रहते है,
> बिच्छू, लकड़बग्घे, रीछ, चीते, यहाँ रहते हैं;
> पेड़ों पर बिचखोपड़।
> चिरौंजी, बहेड़ा, हड़
> ग्रौर पेड़, बड़े-बड़े,
> जंगल के जंगल खड़े।
> बड़े बाघ ग्रौर दूर रहते हैं,
> पानी पीने रात को ग्राते हैं, लोग कहते हैं,
> या शिकार के लिए,
> या कि भूले-भटके।

प्रकृति के इस भयावने दृश्य के उपरांत ही मंदाकिनी के किनारे स्फटिक-शिला की रम्यता का ग्रपना महत्त्व है। स्फटिक-शिला की मनोरमता को एक सद्यःस्नाता के वर्णन से निराला जी ने चौगुना कर दिया है। वर्णन बहुत खुला हुग्रा, नुकीला ग्रौर रसभीना है; ग्रतः मन को मरोड़कर रख देता है। इस वर्णन को उत्तेजक भी कहा जा सकता है; पर कवि ने उस रमणी मे सीता की कल्पना कर वासना के डंक को तोड़-

कर रख दिया है, जैसे विषैले सर्प के हुंकारते फण को किसी ने मंत्र मार-कर झुका दिया हो। देखिए—

खड़ा हुआ स्फटिक-शिला मैं देखता ही रहा।
आँख पड़ी युवती पर
आई थी जो नहाकर,
गीली धोती सटी हुई भरी देह में, सुघर
उठे पुष्ट तन, दुष्ट मन को मरोड़कर,
आयत दृगों का मुख खुला हुआ छोड़ कर।
वदन कहीं से नहीं काँपता।
कुछ भी संकोच नहीं ढाँपता।
वर्तुल उठे हुए उरोजो पर अड़ी थी निगाह
कैसे भरे दिव्य स्तन, हैं ये कितने कठोर।
मेरा मन काँप उठा, याद आई जानकी।
कहा, तुम राम की,
कैसे दिए हैं दर्शन!

स्पष्ट है कि अपनी भावना के कारण ऐसा वर्णन तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त नही कर सकते थे।

'कैलाश मे शरत्' निराला के मानसिक विकार को सिद्ध करने वाली रचना है। यह यात्रा भौगोलिक दृष्टि से ग़लत है। निराला जी ने इसमें काश्मीर को अफगानिस्तान के आगे बतलाया है। लेकिन रचना १९४६ के पूर्व की है और उस समय तक उनमे विक्षिप्तावस्था का कोई चिह्न नहीं पाया जाता। जीवन के अंत तक उनकी और भी किसी रचना से पागलपन की कोई बात सिद्ध नही होती; अतः इसके दूसरे कारण की खोज करनी होगी। लगता ऐसा है कि निराला ने जानबूझ कर ऐसी एक रचना अपनी कृतियो मे रख दी है। रचना काल्पनिक है

और यह उस मानसिक स्थिति की परिचायक है जब मनुष्य को कल्पना की उड़ान मे कोई भी बात असंभव नही लगती, जब कही की चीज़ और कही दिखाई देने लगती है, जहाँ कुछ का कुछ प्रतीत होता है। पहली बात यह कि निराला ने इसमे अतीत और वर्तमान के अंतर को मिटा दिया है। रचना के प्रारम्भ मे ही लिखा है कि इस यात्रा मे स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस की सहधर्मिणी श्रीमती माता जी, स्वामी जी के शिष्य तथा कई राजपुरुष भी उनके साथ थे। यह बात स्पष्टतः असंभव है; लेकिन क्योकि विवेकानन्द, मिशन के लोग और राजपुरुष निराला जी की कल्पना मे बराबर चक्कर काटते रहते थे; अतः यह उल्लेख अकारण नही है। यह यात्रा-दल अफ़ग़ानिस्तान तक घोड़ों पर जाता है; फिर पहाड़ी बकरो पर। तातारी पथ-दर्शक वहाँ रम्य स्थल उन्हे दिखाते हैं। कैलाश की स्थिति उन्होंने अफगानिस्तान के आगे मानी है। इसे वहाँ के लोग कैलाश न कहकर केवल 'कैला' कहते हैं। कैला की चोटी निराला जी की दृष्टि मे एवेरेस्ट और कंचनजंघा से भी श्रेष्ठतर है। बहुत संभव है कभी किसी ने निराला जी से कह दिया हो कि अफगानिस्तान की दिशा मे भी एक कैलाश है और यह बात उनकी स्मृति मे रह गयी हो। इस कैलाश की चोटी मे दुर्गा का भान होता है। उसके चरणो मे एक ताल है—राक्षसताल—जो महिषासुर का प्रतीक है। इसके आगे मानसरोवर है। निराला जी मेष-मांस का भोजन करके इस सरोवर मे नौका-विहार करते है। वहाँ गायन-वादन चलता है। निराला मांस और संगीत दोनो के प्रेमी थे ही; अतः अपने साथ बंगाली सन्यासियो को भी मांस खिला दिया है। रचना पूरी काल्पनिक है।

स्थानो का व्यतिक्रम होने पर भी प्रकृति-वर्णन इनका वैसा ही रम्य है जैसा अन्य रचनाओं का—

गिरि के पद-मूल में
कोटि-कोटि फूल खिले
रश्मि के रंगों के
मुख्यतः पीत-नील
अतिशय सौरभ उनमें।
किश्तियाँ डाली गईं
उन पर चढ़कर हम
मानसर पर चले।
इंदीवर करोड़ों,
करोड़ों अन्य कमल, कोकनद, शतदल
ऐसी सुगन्ध की मदिरा न फिर मिली।
उन्मद विहार किया।

इतना होने पर भी इस रचना की सृजन-प्रक्रिया की खोज मनोविज्ञान का काम है।

निराला जी बहुत दिनों तक बंगाल मे रहे थे; अतः प्रकृति-वर्णन में वहाँ का प्रभाव कहीं-कहीं लक्षित होता है। बंगाल की भूमि का आकर्षण कही-कही स्पष्ट रूप से भी अंकित है जैसे 'स्वामी प्रेमानंद जी महाराज' वाली रचना में। स्वामी प्रेमानंद का स्वागत एक बार महिषादल राज्य के कर्मचारी करते हैं—खुले मैदान मे। उस अभिनंदन मे गाँव की प्रजा भी सम्मिलित होती है। निराला जी उस वातावरण का चित्रण करते हुए लिखते हैं—

आमों की मंजरी पर
उतर चुका है वसंत
मञ्जु गुंज भौंरों की
बौरो से आती हुई
शीत वायु ढो रही है।

नारियल फले हुए,
पुष्करिणी के किनारे
दोहरी क़तारो मे ।
खेलती है मछलियाँ,
पानी की सतह पर
पूँछ पलटती हुई ।
वहीं गंधराज, बकुल
बेला, जुही, हरसिंगार,
केतकी, कनेर, कुंद,
चंपा लगे हुए है—
कोनों में बाँसों के झाड़, कहीं-कहीं इमली,
इंगुदी, कपास, नीम
मध्यवित्त गृहों के वासगृहों पीके छे ।
दूर-दूर आस-पास गाँव के आवास हैं
ऊँचे भू खडों पर ।
नीची-नीची जमी मे
जमता है जहाँ पानी,
धान कट चुके हैं अगहन के, देर हुई,
किंतु वैसी जमी में अभी तक कुछ नमी है ।

निराला की कृतियो मे प्रकृति के प्रति दुहरा आकर्षण पाया जाता है—एक ऐसा जहाँ प्रकृति के तत्व एक दूसरे के प्रति आकर्षित है जैसे रात दिन के प्रति, जल पृथ्वी के प्रति, किरण लहर के प्रति, लहर कमल के प्रति । अन्य कृतियो से 'अनामिका' मे यह प्रवृत्ति अधिक मुखर हो उठी है । कहीं-कहीं इस आकर्षण मे ऐन्द्रियता का भी भी पुट पाया जाता है, जैसे चंद्रमा और धरती के इस मिलन मे—

वक्ष पर धरा के जब
तिमिर का भार गुरु
पीड़ित करता है प्राण,
आते शशांक तव हृदय पर आप ही,
चुंबन-मधु ज्योति का, अंधकार हर लेता।

दूसरा आकर्षण है व्यक्ति का प्रकृति के प्रति। सृष्टि के आदि-काल से व्यक्ति व्यापक प्रकृति के सम्पर्क मे रहा है; अतः यह आकर्षण कभी निःशेष हो जायगा, ऐसी तो कल्पना करना ही व्यर्थ है। वह झोंपड़ी से लेकर प्रासाद तक मे रह चुका है, फिर भी वह फूलो को प्यार करना नही भूला है। जीवन की व्यस्तता मे भी वह सूर्योदय और सूर्यास्त के लिए तरसता है। पर्वत और समुद्र के निकट वह अब भी दौड़कर पहुँचना चाहता है। कला, शिल्प और संस्कृति के विकास के साथ जीवन के सारे बंधन उसे कभी-कभी बहुत अखरते हैं और वह विराट् प्रकृति को उसी ललकभरी दृष्टि से देखता है जैसे कोई किसी रमणी को देखता हो। गीत की इन पंक्तियों मे निराला की स्वतन्त्र आत्मा की छटपटाहट देखिये—

मैं रहूँगा न गृह के भीतर,
जीवन में रे मृत्यु के विवर,
पृथ्वी का लहराता सुंदर
दुकूल सस्वर आकर्षण भर...

यह समझना भूल की बात होगी कि प्रकृति और व्यक्तियो के सीधे एवं यथातथ्य वर्णन प्रभावशाली नही होते। रचनाओ की सरलता ही कभी-कभी उनकी सबसे बडी शक्ति होती है। वर्णन की प्रभविष्णुता कल्पना एवं अलंकरण पर इतनी निर्भर नही करती, जितनी राग-तत्त्व

पर। इन पंक्तियों को देखिए जिनमे मानव-जीवन के चित्र प्रकृति के चित्रो के साथ ऐसे गुँथे हुए है कि मानव को प्रकृति से पृथक् किया ही नहीं जा सकता—

(१) बहुत दिनों बाद खुला आसमान,—
निकली है धूप, हुआ खुश जहान।
दिखीं दिशाएँ, झलके पेड़,
चरने को चले ढोर—गाय,भैंस-भेड़,
खेलने लगे लड़के छेड़-छेड़—
लड़कियाँ घरों को कर भासमान।

—अनामिका

(२) पीपल की डाल पर
कूक रही है कोयल, माल पर
बैलगाड़ी चली ही जारही है।
नीम फली है, खुशबू आरही है,
डालों से छन-छन कर राह पर
किरनें पड़ रही हैं, बाह पर
बाह किये जारहा है खेत में
दाहनी तरफ़ किसान, रेत में
बाईं तरफ़ चिड़ियाँ कुछ बैठी हैं,
खुली जड़ें सिरसे की ऐंठी हैं।

—अणिमा

अपने दो काव्य-ग्रंथो मे निराला जी ने प्रकृति के विशिष्ट रूपों को प्रस्तुत किया है। प्रकृति वहाँ एक उच्चतर उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हुई है। इनमे पहला ग्रंथ है तुलसीदास, दूसरा कुकुरमुत्ता।

'तुलसीदास' एक सांस्कृतिक रचना है। इसमे हिन्दू और मुस्लिम

संस्कृति के टकराव की चर्चा है। कवि ने मुस्लिम संस्कृति को विदेशी और हिन्दू संस्कृति को भारतीय मानकर, राष्ट्रीय संस्कृति को मुक्त करने का प्रयत्न किया है। मुक्ति के दूत हैं तुलसीदास। उनके अंतर्द्वन्द्व को व्यक्त करने के लिए कवि ने अनेक रूपकों की सृष्टि की है।

पहला रूपक है मुस्लिम-संस्कृति द्वारा हिन्दू-संस्कृति के ग्रसित होने का। मुगलों का वैभव उन्नति के सोपानो पर चढता चला जारहा है। स्वभावतः हिन्दू-गौरव का सांध्य-काल उपस्थित हो गया है। कवि ने इस रूपक को काफी दूर तक निभाया है। इसमे भारतवर्ष आकाश के समान है, हिन्दू-संस्कृति संध्याकालीन निष्प्रभ सूर्य के समान, मुस्लिम सभ्यता उगते चंद्रमा जैसी। मुग़लों के दल वादलों के समान घिरकर दुःख के वज्र गिरा रहे है। अंधकार को घिरा देखकर हिन्दू-जाति के जीवन के जल मे प्राणों के शतदल मुंद गए हैं। एक दूसरे स्थान पर इन संस्कृतियों की तुलना सूर्य और राहु के रूप मे भी की गयी है।

वाह्य दृष्टि से मुगलों के शासन-काल मे शांति स्थापित थी। इसका आभास देने के लिए कवि ने केवल चंद्रमा को अलग लेकर दूसरा रूपक खड़ा किया है। वहाँ गगन मे चाँदनी के फैलने, समीर के वहने, कुमुदो के खिलने और शीतलता के व्याप्त होने के साथ नदी के जल पर ज्योत्स्ना का प्रभाव अंकित किया गया है। यह दूसरी वात है कि नदी की एक ही ध्वनि किसी को 'कल' 'कल' के रूप मे सुनायी पड़ती है किसी को 'छल' 'छल' के रूप मे।

एक दिन तुलसीदास चित्रकूट-यात्रा को जाते है। वहाँ प्रकृति इस वस्तु-स्थिति का आभास उन्हे देती है। उन्हे लगता है सूर्य अब केवल जलाता है, वर्षा केवल कीच उत्पन्न करती है, आंधी केवल धूल विछा जाती है। इसके अतरिक्त जिधर देखिए, उधर झाड़ियां हैं, कांटे हैं।

वाहर और भीतर के इस अंधकार को देखकर वे अपनी आँखें मीच लेते हैं। सौभाग्य से इस घोर तम मे एक तारिका उदित होती है। वह

कवि की पत्नी रत्नावली है। रत्नावली एक प्रतीक है—प्रकृति का। वस्तुओं का बदलना उसका वस्त्र बदलता है, नील नभ उसकी अलकें है, चंद्रमा उसका आनन, गिरिवर उसके उरोज, सरिताएँ दुग्ध की धाराएँ।

तुलसीदास जब घर की ओर लौटते है या यह कहिए कि उनकी अंतर्मुखी चेतना जब बाह्यमुखी होती है तो सारी सृष्टि ही उन्हे परिवर्तित प्रतीत होती है। प्रकृति का संदेश अपनी पत्नी के माध्यम से उन्हें मिल चुका है। किसी को संदेह न रह जाय, इसी से निराला जी ने इस रचना के अंत में कवि की पत्नी की उपमा एक साथ सरस्वती और लक्ष्मी से दी है। ये दोनो विद्या और वैभव की देवियाँ है।

कृति का प्रारभ संध्या के घिरते अंधकार से हुआ है और अंत प्रभात के आलोक के साथ। यह मानो पार्थिव ऐश्वर्य पर दैवी भाव की विजय है। निराला कृत 'तुलसीदास' मे प्रकृति के कल्याणकारी रूप की तुलना हम पंत जी की 'ज्योत्स्ना' नाटिका की प्रकृति से कर सकते है। दोनों की सांस्कृतिक दृष्टि अत्यंत आलोकमयी है।

प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से कुकुरमुत्ता एक साधारण रचना है। इसमे कुकुरमुत्ता की तुलना मे गुलाब को हेय सिद्ध किया गया है। सौंदर्य के प्रति ऐसा ही दृष्टिकोण एक दिन पंत जी का भी हो गया था। 'ताज' शीर्षक रचना इसका प्रमाण है।

नवाब के उद्यान का वर्णन बहुत चलताऊ ढंग का है। वहाँ केवल फूलों और फलों के नाम गिनाए गए है। इस प्रवृत्ति की तुलना पंत जी की ग्राम्या मे रक्षित 'सौंदर्य कला' शीर्षक रचना से की जा सकती है। वहाँ उन्होंने भी इसी प्रकार फूलो के नाम गिनाए है। निराला जी का वर्णन देखिए—

फूलों के पौधे वहाँ—
लगे कैसे खुशनुमां;

वेला, गुलशब्बो, चमेली, कामिनी,
जुही, नरगिस, रातरानी, कमलिनी,
चंपा, गुलमेंहदी, गुलखैरू, गुलअब्बास,
गेंदा, गुलदाउदी, निवाड़ी, गंधराज,—
फलों के पेड़ थे—
आम, लीची, फ़ालसे, संतरे के ।

कुकुरमुत्ते के लिए जो उपमान ढूंढे गए हैं, वे वड़े 'क्रूड' है। कुकुरमुत्ता उन्हें एक साथ तराजू का पल्ला, मथानी, छाता, धनुष, सुदर्शन-चक्र, हल, नाव का तला, पैराशूट और पिरेमिड दिखाई देता है। यह वहुत संभव है कि निराला जी ने जान-वूझ कर ये अप्रस्तुत जुटाए हो। प्रकृति के प्रति इस अपरिष्कृत रुचि के दो कारण है। पहला तो यह कि कुकुरमुत्ता एक व्यंग्य-परक रचना है, दूसरे यह कविता प्रगतिशील दृष्टिकोण से लिखी गयी है। यही कारण है कि अंत मे कवि ने कुकुरमुत्ते का कवाव तैयार कर नवाव की लड़की को खिला दिया है।

प्रकृति के सौदर्य के प्रति निराला की यह स्थायी वृत्ति नही है। एक हवा कही से उड़ती हुई आयी थी जो उन्हे छूकर न जाने किस दिशा को वह गयी।

प्रेम

प्रेम एक आदिम वृत्ति है। मनुष्य के प्रेम का संबंध इसीलिये किसी भी वस्तु से हो सकता है जैसे पुस्तक, पुष्प और पशु-पक्षी से। लेकिन जैसे-जैसे यह भाव जड़ से चेतन की ओर विकसित होता है, वैसे ही वैसे वह जटिल और मधुरतर होता जाता है। सारा अंतर प्रतिदान की संभावना पर निर्भर करता है। जड़ वस्तुओं से हम कितना ही प्रेम क्यो न करें, वह विशेष स्फूर्तिदायी नहीं होता। जड़ वस्तुएं हमारे संबंध में क्या सोचती हैं, इसका पता हमें नही चलता, क्योकि उनके हृदय नहीं होता। अन्य वस्तुएँ अपनी चेतना के अनुसार हमारी भावना का कुछ न कुछ प्रत्युत्तर देती ही रहती हैं। संसार के सभी देशों मे ऐसे भी लोग रहे है जिन्होंने अपने कुत्ते या बिल्ली को जीवन-व्यापी प्रेम दिया है; पर मनुष्य-मनुष्य के बीच की बात ही दूसरी है।

हिंदी-काव्य मे प्रेम अपने लौकिक रूप मे भी पाया जाता है और अलौकिक रूप मे भी। लौकिक प्रेम मे वीरगाथा-काल का तीव्र भाव है जिसकी पूर्ति के लिए नायक-नायिका जीवन के सभी संकटों को मोल लेने के लिए तत्पर है और समय उपस्थित होने पर प्राणों की बाजी लगा देते हैं। खुली प्रकृति मे उत्साह के इस परिचय के कारण रोमांस मे एक विचित्र प्रकार की 'थ्रिल' की अनुभूति होती है। रीतिकालीन प्रेम का एक व्यक्तिगत रूप भी है जिसका आभास बोधा, ठाकुर, आलम, घनानंद आदि की कविता से मिलता है, दूसरा रूढ़िबद्ध नायिका-भेद

सम्वन्धी स्वरूप है जो विहारी, देव, पद्माकर, मतिराम आदि की रचनाओं से झलकता हे। यहाँ नायिका विशिष्ट नही, सामान्य नारी है। नारी के यहाँ अलग-अलग 'टाइप' हैं। उसे जो अनेक श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया है, उसी के आधार पर वह पहचानी जाती है। आधुनिक काल मे लौकिक प्रेम की स्वीकृति यों 'वच्चन' जी से ही प्रारंभ हो गयी थी, पर उसे ठीक से अभिव्यक्ति मिली 'अज्ञेय' के काव्य मे। 'वच्चन' का प्रेम वहुत कुछ स्वकीया के प्रति है। उनका 'निशा निमंत्रण' हिंदी की सवसे लम्वी शोक गीति है; पर है वह अपनी पत्नी के प्रति ही। विलास के क्षेत्र मे यही दशा 'मिलन यामिनी' की है। रोमांस को एक स्वाभाविक वृत्ति के रूप मे उत्तर-छायावाद-काल मे ही स्वीकार किया गया और अव तो प्रेम एकदम व्यक्तिगत स्तर पर उतर आया है। छायावाद-युग मे कुछ कवियो ने लौकिक प्रेम को वर्णन का विषय वनाया भी है; पर उस पर अपने युग की छाया पड़ ही गयी है। स्त्री और पुरुष के वीच, स्त्री और पुरुष के रूप मे आकर्षण की नॉर्मल अभिव्यक्ति, अपने समस्त गुण-दोषों के साथ, सच पूछिए तो, अभी हो ही नही पायी।

अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति भक्ति-काल मे हुई। इसमे एक ओर निर्गुण-काव्य है, दूसरी ओर सगुण काव्य; एक ओर रहस्यवादी काव्य है, दूसरी ओर भक्ति काव्य। कवीर के काव्य मे ब्रह्म पुरुष है, जायसी के काव्य में नारी। तुलसी के काव्य मे वही राम के रूप मे है। सूर के काव्य मे कृष्ण के रूप मे। इस काव्य की उच्चता, पवित्रता और मधुरता वेजोड़ है। इनके उपरांत यदि किसी पाँचवे कवि का नाम सम्मिलित किया जा सकता है, तो वह महादेवी का। मीरा और रसखान आदि उनके उपरांत ही स्थान पाने के अधिकारी है।

लौकिक और अलौकिक दोनो से भिन्न एक इस प्रकार का प्रेम-काव्य भी है जिसे दोनो के मध्य रखा जा सकता है। यह किसी आड़

में व्यक्त होने वाला प्रेम है। राधा-कृष्ण के नाम की ओट में व्यक्त होने वाला ढेर सारा रीतिकालीन काव्य ऐसा ही है। आधुनिक काल के प्रारंभ में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के काव्य की भी यही दशा है। एक आड़ सिद्ध-काव्य ने भी कभी ली थी जिसमें नग्नता के ऊपर धर्म का झीना आवरण था। नारी के निरावरण शरीर का ऐसा ही वर्णन श्री सुमित्रानंदन पंत ने अरविंदवाद का सहारा लेकर 'कला और बूढा चाँद' में किया है। एक तीसरी कोटि में आधुनिक-काव्य की वह धारा समझनी चाहिए जिसका प्रेम-पात्र निर्दिष्ट नहीं है, जहाँ यह पता ही नहीं चलता कि भावना लौकिक पात्र के प्रति है कि अलौकिक के प्रति। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' के 'आँसू' लौकिक आलंबन के लिए बहे हैं अथवा अलौकिक के लिए, इस सम्बन्ध में न जाने उनके कितने पाठकों को अभी तक संदेह बना हुआ है।

छायावाद-युग में प्रेम की मिली-जुली अनुभूति पायी जाती है। जैसा अभी कह चुके हैं, केवल महादेवी जी का काव्य इसका अपवाद है। इसके विपरीत 'प्रसाद' 'पंत' और 'निराला' तीनों ने लौकिक और अलौकिक दोनों को एक ही हृदय में सँभाला है। जहाँ तक अलौकिक भावना का सम्बन्ध है, प्रसाद जी की 'नमस्कार', निराला की 'तुम और मैं,' तथा पंत जी 'मौन निमंत्रण' प्रसिद्ध हैं ही। महादेवी का तो सारा काव्य ही आध्यात्मिक है।

प्रसाद, पंत, निराला, तीनों कवियों की प्रेम-सम्बन्धी परिस्थितियाँ भिन्न कोटि की रही हैं, प्रेम के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण भिन्न प्रकार के, यही कारण है कि अभिव्यक्तियाँ भी भिन्न प्रकार की हैं। तीनों में यदि कोई बात सामान्य रूप में पायी जाती है तो वह यह कि ये तीनों ही बहुत गंभीर स्वभाव के थे। अनुभव उनका कैसा ही रहा हो—चाहे सब जैसा रहा हो—और उस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी कहा हो; पर वे अपनी उस भावना को बहुत महत्त्वपूर्ण समझते रहे—

जैसा कि सब नही समझते। नित्य चर्चा का विषय उन्होने उसे नही बनाया। वे उन लोगो मे से नही थे कि साधारण सी कोई घटना घटी तो दूसरे ही दिन सारे शहर को पता चल गया। यदि इनके जीवन की घटनाओ के सम्बन्ध मे कही कुछ प्रचारित भी हुआ तो उसे उन्होने बराबर छिपाया या अपने मुँह से कभी कुछ नही कहा,—यो लोग अनुमान लगा ही लेते है और बड़ी घटनाएँ छिपती भी नही, पर अनुमान अनुमान ही है, वह सदैव प्रमाण नही होता। 'प्रसाद' जी तो प्रश्न करने पर साफ बचकर निकल जाते थे—

उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की,
अरे खिलखिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की?
मिला कहाँ वह सुख जिसका मै स्वप्न देखकर जाग गया?
आलिंगन में आते आते मुसक्या कर जो भाग गया।
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में,
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में,
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पंथा की,
सीवन को उधेड़कर देखोगे क्यों मेरी कंथा की?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरो की सुनता मै मौन रहूँ?

फिर भी व्यक्तिगत प्रेम के सम्बन्ध मे इन कवियों ने बहुत कहा है। इस वर्णन मे मासलता है—सबसे अधिक 'प्रसाद' मे। प्रेम के ये वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। 'प्रसाद' के 'आँसू' और पंत की 'ग्रंथि' मे विरह का दु:ख अपने अतिरंजित रूप मे ही पाया जाता है। लेकिन इन कवियो की ऐन्द्रियता और अतिरंजना मे भी एक प्रकार की गंभीरता है। उसका एक कारण तो यह है कि अपनी उद्दाम भावना को ये धीरे-धीरे सूक्ष्मता की परिधि तक विस्तृत कर देते हैं; दूसरे, सौंदर्य के

प्रति ललक को इन्होने कल्पना के आवरण में ऐसा छिपा दिया है कि वह धीरे-धीरे धुँधली और अस्पष्ट हो उठती है। कहने का तात्पर्य यह कि मन की तीव्रता को एक ओर गंभीरता, दूसरी ओर सूक्ष्मता, तीसरी ओर कल्पना और चौथी ओर अस्पष्टता की दिशा मे से जाने से वह रहस्यमय हो उठी है। इसी से छायावादी युग का प्रेम भी बस छायावादी ही है। दृष्टि व्यक्ति के प्रति ही है; पर उस व्यक्ति को ऐसे कुहासे के भीतर से निकाला है कि पहचानना कठिन पड़ जाता है। तीनों कवियो मे 'प्रसाद' जी प्रेम को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले गए है, पंत जी यथार्थ से कल्पना की ओर और 'निराला' मे भी आलोक के तत्व कम नही है, पर मुझे पंत से 'प्रसाद' का और 'प्रसाद' से 'निराला' का प्रणय-निवेदन अधिक आकर्षक लगता है। निराला के सम्बन्ध मे कुछ लोगों ने जो यह प्रचारित करने का प्रयत्न किया है कि उनके प्रेम का लक्ष्य उनकी सुंदर पत्नी ही थी, वह सत्य से बहुत दूर है। पत्नी के प्रति भी उनका भाव उमड़कर बहा है, पर बहुत कम। जैसे सभी का, वैसे निराला का अंतर भी स्वच्छंद प्रेम के माधुर्य से परिपूरित रहा है, यह उनके वर्णनो से एकदम स्पष्ट हो जाता है।

निराला ने प्रेम को शाश्वत और अनादि माना है तथा संसार मे उसके विविध रूपों को स्वीकार किया है, साथ ही सच्चे प्रेम की उपलब्धि कठिन है, ऐसा संकेत भी उन्होने किया है।

इनकी रचनाओ मे प्रेम दोनो प्रकार का पाया जाता है। भाव का लक्ष्य कहीं अपनी पत्नी है, कही कोई प्रेयसी। पहले स्वकीया के प्रति अनुराग को लें।

ऐसा सुना जाता है कि निराला की पत्नी सुन्दर और गुणवती थी और ये उनकी ओर आकर्षित भी बहुत थे। खड़ी-बोली कविता की ओर इनका झुकाव उन्ही की प्रेरणा से हुआ। उनके आकर्षण के कारण ये प्रायः ससुराल चले जाते थे। कुछ दिन वे कलकत्ते में भी रही।

'गीतिका' का भावपूर्ण समर्पण उन्ही के लिए है। उसमे उन्होने लिखा है, "जिसकी हिन्दी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय, मैं आँखें नही मिला सका, जिसका स्वर गृहजन, परिजन और पुरजनो की सम्मति मे मेरे स्वर को परास्त करता था; जिसकी मैत्री की दृष्टि क्षण-मात्र मे मेरी रुक्षता को देखकर मुस्करा देती थी; जिसने अंत मे अदृश्य होकर मुझसे मेरी पूर्ण परिणीता की तरह मिलकर मेरे जड़ हाथ को अपने चेतन हाथ से उठाकर दिव्य शृंगार की पूर्ति की...।" इस समर्पण के आधार पर कुछ लेखकों ने निराला जी की प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं के पीछे उनकी पत्नी के व्यक्तित्व के प्रभाव को मान्यता दी है। पर यह ठीक नही है। समर्पण की भाषा सामान्य रूप से उच्छवसित ढंग की होती है। उससे धोखे मे आने की आवश्यकता नही है। विवाह के समय इनकी पत्नी की अवस्था बारह वर्ष की थी और अठारह वर्ष की अवस्था मे उनकी मृत्यु हो गयी। वे एक गाँव की रहने वाली थी। निराला ने सन् १९१६ मे ही 'जुही की कली' जैसी रचना प्रस्तुत की थी, अतः संभव है प्रारंभ मे उनकी कोई बात चुभ गयी हो; लेकिन दोनो के व्यक्तित्व मे बहुत अंतर था। कुछ लोगो ने स्वर्गीया मनोहरा-देवी की तुलना कालिदास की पत्नी विद्योत्तमा तथा तुलसी की सह-धर्मिणी रत्नावली से जो की है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण लगती है—यों विद्योत्तमा और रत्नावली वाली घटनाएं सत्य पर आधारित हैं, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। वे किंवदंतियाँ ही हैं। फिर भी निराला अपनी पत्नी को बहुत प्रेम करते थे, इनका कुछ आभास 'कुल्ली भाट' से मिलता है।

'प्रिया के प्रति' एक रचना 'परिमल' मे है। इसमे वे उनकी मृत्यु के उपरांत उन्हे स्मरण करते हैं। जानना चाहते है, परलोक मे वे सुख में हैं अथवा दु:ख मे। इसमें मृत्यु के परे जीवन के प्रति जिज्ञासा के साथ वियोग की व्यथा का वर्णन बहुत मार्मिक बन पड़ा है। हृदय की

उज्ज्वलता के आधार पर प्रणय की पवित्रता की चर्चा में भावनाओ की पूरी उच्चता प्रदर्शित हुई है। आत्म-निवेदन की भाषा संयमित है। कहने से अधिक, यहाँ कुछ न कहना ही अधिक मर्मस्पर्शी हो उठा है—

एक बार भी यदि अजान के
अंतर से उठ आजातीं तुम,
एक बार भी प्राणों की
तम-छाया मे आ कह जाती तुम,
सत्य हृदय का अपना हाल,
कैसा था अतीत वह, अब यह
बीत रहा है कैसा काल।
मै न कभी कुछ कहता,
बस, तुम्हें देखता रहता।
क्या तुम व्याकुल होतीं ?
मेरे दुख पर रोतीं ?
मेरे नयनों मे न अश्रु प्रिय आता;
मौन दृष्टि का मेरा चिर अपनाव
अपना चिर निर्मल अंतर दिखलाता।

ऐसी ही एक रचना 'प्रिया से' 'अनामिका' मे है। उसमे वर्णित भाव प्रिया और कविता दोनो पर समान रूप से घटित होते हैं। इसमे कवि ने अपनी प्रिया को काव्य की प्रेरणा के रूप मे स्वीकार किया है और अपने सारे प्रयत्न का उत्स उसी को माना है—

तेरे सहज रूप से रँगकर,
झरे गान के मेरे निर्झर,
भरे अखिल सर,
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार !

'मरण दृश्य' शीर्षक रचना भी पत्नी से संबंधित बतलायी जाती है। इसमे प्रिया की ओर से यह पश्चाताप प्रकट किया गया है कि उसने अपने प्रियतम को दुःख ही दिया। यह वही है जिसने मुक्त गगन के उन्मुक्त पंछी को बंधन मे डालकर जल का मीन बना डाला। फिर भी उसकी इच्छा है कि वे नित्य नवीन गीतो का सृजन करें। जहाँ तक उसका संबंध है, वह मृत्यु को वरण कर उन्हे मुक्त कर जायगी। इस प्रकार अतीत की मधुरता से वर्तमान जीवन की कटुता की तुलना करते हुए कवि मृत्यु मे भी एक अभिप्राय खोज लेता है—

दिये थे जो स्नेह-चुम्बन,
आज प्याले गरल के घन;
कह रही हो हँस—"पियो, प्रिय,
पियो, प्रिय, निरुपाय!
मुक्ति हूँ मै, मृत्यु में
आई हुई, न डरो।"

निराला की पत्नी की मृत्यु १८ वर्ष की अवस्था मे ही अपने नैहर डलमऊ मे हो गयी थी। उस समय वे कलकत्ते मे थे। उन्हे तार से सूचना दी गयी थी, लेकिन उनके आने के पूर्व ही वे चल बसी। अंतिम भेंट उनसे नही हो पायी। कहने का तात्पर्य यह कि कवि अपनी पत्नी की रुग्णावस्था मे अथवा उसकी मृत्यु-शय्या के निकट नही था। अतः यह घटना तथ्य पर आधारित नही है। लेकिन काव्य का सत्य एक भिन्न ही प्रकार का होता है। इस विवशता की वेदना उन्हे बराबर कसकती रही होगी। इसी से संभव है इस तथ्य की कल्पना उन्होंने की हो कि यदि वे मृत्यु के समय उनके पास होते तो वे क्या कहती। यह भाव बीस वर्ष तक कवि के हृदय मे पकता रहा और उसकी अभिव्यक्ति सन्

१९३८ में हुई। स्मृति मे आई हुई यह कल्पना सत्य से कम मार्मिक नही।

स्वच्छंद प्रेम का इतिहास भिन्न प्रकार का है। उदाहरण के लिए 'परिमल' की 'स्मृति चुबन' कविता को लें। इसमे यौवन-काल के चुंबनो की स्मृति रक्षित है—

बालिकाएँ मेरे संग की कुमारियाँ
शिथिल कर देह
बह जातीं अविराम
कहाँ जाने किस देश में !—
इंगित कर मुझको
बुलाती थीं बार-बार
प्यार ही प्यार का
चुम्बन संसार था।

इस रचना में किशोरावस्था की समाप्ति पर एक ऐसे सुख के परिवेश का वर्णन है जिसमे कवि सुन्दरी बालिकाओं के बीच स्वच्छंदता से विचरण करता है। भावनाओ के इस राज्य मे प्रेम का आलोक निरंतर झरकर आनंद के फूल खिलाता रहता है। यहाँ सोने के दिन हैं, चाँदी की रातें। भाव के आदान-प्रदान की तुलना कवि ने प्रकृति के जीवन से की है—जैसे किरणें पुष्पों के अधर चूमती है, जैसे निर्झर सरिता से जा मिलते है, जैसे विहग आकाश मे उड़ते रहते हैं। इस प्रकार मुक्त वातावरण मे भावनाओ का खेल मुक्त रूप से चल रहा है। यह दूसरी बात है कि इन कुमारियो में से कवि का झुकाव एक की ओर विशेष रूप से है जिसे वह अपने यौवन-वन की शकुंतला बतलाता है; लेकिन वर्णन यह लौकिक है और इसमे लालसा का प्राधान्य है। हमारा

अनुमान है कि बंगाल के प्रवास-काल की कोई मधुर स्मृति कवि को 'हॉन्ट' कर रही है—

देखा एक अपर लोक,
रोम-रोम में समाई जहाँ
चुम्बन की लालसा,
ज्योति नयन-ज्योति से
पलकों से पलक मिले,
अधरों के अधर,
कंठ-कंठ से लगा हुआ,
बाहुओं से बाहु,
प्राण प्राणों से मिले हुए।

परिमल की 'स्मृति-चुंबन' रचना की टक्कर मे अनामिका की 'प्रेयसी' शीर्षक रचना रखी जा सकती है जिसमे भाव पुरुष की ओर से व्यक्त न होकर नारी की ओर से हुआ है। इसमे एक युवती एक युवक की ज्योति-छवि पर मुग्ध हो जाती है और इसके उपरांत उसे सारी सृष्टि आकर्षक और सुन्दर दिखाई देने लगती है। यहाँ भी प्रथम दर्शन उपवन मे होता है। रोमांस के लिए प्रकृति के अंचल से अधिक उपयुक्त और क्या होगा? देखते ही वह अपने प्राण उसे सौंप देती है। लेकिन कुल, शील और धर्म की मर्यादा उसे कुछ कहने से रोकती है और वह चुप लौट जाती है। धीरे-धीरे उसका हृदय युवक के विरह में दग्ध होने लगता है। एक दिन वह उसके द्वार पर पहुँचता है। संयोग से घर के सब प्राणी उस समय अपने काम पर गए है। युवक उसे पुकारता है। परिणाम यह होता है कि युवती उस पुकार को अनसुनी नहीं कर पाती। दोनो एक दूसरे का हाथ अपने हाथ मे लेते हैं और पुरानी भूल का सुधार करते है। युवक उस रूप-माधुरी का पान कर न

जाने कितनी वार तृप्ति का अनुभव करता है। युवती को लगता है कि प्रेम से वडा और कुछ नही है, यहाँ तक कि उसके लिए जाति और धर्म के वंधन भी तोड़े जा सकते है—

दोनों हम भिन्न वर्ण,
भिन्न जाति, भिन्न रूप,
भिन्न धर्मभाव, पर
केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।
किन्तु दिन-रात का,
जल और पृथ्वी का
भिन्न सौंदर्य से वंधन स्वर्गीय है।

'रेखा' में भी प्रेम के उदय, विकास और प्राप्ति की कहानी कही गयी है। इसमे कवि सामान्य भाव से अनन्यता की ओर गया है। यौवन के आगमन पर जैसे सभी एक प्रकार की विह्वलता का अनुभव करते हैं, जैसे सभी किसी की प्रतीक्षा करते हैं, जैसे सभी किसी से मिलने के लिए आतुर रहते हैं, वही दशा कवि की है। कवि के प्रति जो भी झुकाव का अनुभव करता है, उसका स्वागत वह करता है और एक दिन ऐसा भी आता है कि अपने प्रणय के लक्ष्य से उसकी भेंट होती है। उसका सामना होते ही भावों की सारी सम्पत्ति वह उसके चरणो पर उड़ेल देता है और जीवन की सार्थकता का अनुभव करता है—

अन्त में
मेरी ध्रुवतारा तुम
प्रसरित दिगंत से
अन्त में लाईं मुझे
सीमा में दीखी असीमता

एक स्थिर ज्योति में
अपनी अबाधता—
परिचय निज पथ का स्थिर ।

ये तीनों ही कविताएँ लंबी, वर्णनात्मक और अतीत की घटनाओं पर आश्रित हैं। तीनो मे ही यौवन का वर्णन है, तीनों ही प्रेम-भाव को प्रस्फुटित करती हैं, तीनों ही कामना से प्रणय की अनन्यता की ओर मुड़ जाती हैं। इन रचनाओ से कोई निष्कर्ष निकालना ठीक नही होगा; पर इतना तो स्पष्ट ही है कि अतीत मे कही कोई था जो कवि के दृष्टि-पथ मे बार-बार उदित होकर उसके भाव-जगत को आंदोलित कर जाता है। वर्णनों से यह भी स्पष्ट है कि वह कोई भी क्यों न हो, कवि की पत्नी नहीं है।

जहाँ तक प्रेम के व्यवहार-पक्ष का संबंध है निराला के काव्य मे कहना-सुनना बहुत कम है। मिलन के लिए व्याकुलता तो उसमे पायी जाती है, पर सामना होने पर कवि कुछ कह नही पाता। सम्पर्क स्थापित हो गया, दोनो आकर्षित होकर एक दूसरे के निकट आ गए, यही बहुत है। इससे अधिक और क्या चाहिए ? वह मौन रहकर ही प्रेम की मधुरता का अनुभव करना चाहता है। वाचालता उसे दोनो ओर से पसंद नही, इसी से वह कहता है—

बैठ लें कुछ देर
आओ, एक पथ के पथिक से ।

मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड़ में
मन सरलता की बाढ़ में
जल-बिंदु-सा बह जाय ।

अतः इस प्रेम में भाव का आधिक्य है, बौद्धिकता का नहीं। मन की बहुत गहराई मे डूबकर कवि ने प्रणय का अनुभव किया है। जैसा 'पारस' शीर्षक रचना से पता चलता है उसका आत्म-समर्पण पूर्ण ही है और उस ओर का अनुग्रह भी कुछ कम नहीं है। उस पक्ष ने उसके जीवन को रसमय बनाया है।

जैसे सभी ने, वैसे ही निराला ने भी अपनी प्रेमिका के अनुपम लावण्य का वर्णन किया है। कवि के मन को बाँधने वाला उसकी प्रिया का यह रूप ही है। लावण्यमयी होने के साथ वह लज्जावती है। इस लाज के कारण ही तो वह मिल नही पाती। लेकिन जब मिलन होता है तो यह कांति और यह लज्जा भोग की मनोवृत्तियों, क्रियाओ और चेष्टाओं को रसभीनी कलाकारिता प्रदान करती हैं। संयोग के इस चित्र को देखिए—

स्पर्श से लाज लगी,
अलक-पलक में छिपी छलक
उर से नव राग जगी।
चुम्बन चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख छल,
कभी हास, फिर त्रास, साँस बल
उर-सरिता उमगी।

ऐसे ही प्रेम की दृष्टि से जब प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे को देखते है तो उनका रोम-रोम सिहर उठता है और हृदय का सरोवर आंदोलित हो उठता है। इस स्थिति का वर्णन निराला ने 'गीतिका' के एक गीत—नयनो का नयनो से बंधन—मे किया है। लौकिक प्रेम मे एक ऐसी स्थिति आती है जब प्रणयी लोग शरीर को बीच मे डालकर सुख का अनुभव करते है। ऐसे प्रेम की चरम परिणति प्रायः भोग मे होती है।

आकर्षण होते ही पहला प्रयत्न सम्पर्क के लिए होता है। सम्पर्क स्थापित होने पर संबंध गहरा होता चला जाता है और फिर किसी दिन दोनों एक दूसरे को आत्म-समर्पण कर बैठते हैं। बीच-बीच में वे मन से उमड़ने वाले भावों को भी व्यक्त करते रहते हैं; पर मुख्य लक्ष्य शरीर का शरीर के निकट आना ही है। किसी प्रकार की बाधा या विवशता हो तो दूसरी बात है, नही तो प्रेम में शरीर को बचाना बहुत कठिन काम है। निराला ने दर्शन, स्पर्श और चुंबन के सुख का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है; लेकिन 'गीतिका' मे ऐसा वर्णन भी पाया जाता है जहाँ हमारी सभी इंद्रियाँ तृप्ति का अनुभव करती है। शारीरिक और मानसिक धरातल पर भोग का वर्णन होली वाले गीत मे पाया जाता है। इन पंक्तियों को देखिए—

प्रिय कर कठिन उरोज-परस कस
कसक - मसक गई चोली,
एक - वसन रह गई मंद हँस
अधर-दशन अनबोली—

हमारा अपना अनुभव ही जीवन और जगत के प्रति हमारे दृष्टि-कोण को निश्चित करता है। सुख में हमे सारी सृष्टि प्रसन्न दिखाई देती है, दुःख मे कराहती हुई। जिस कवि की दृष्टि बिना किसी सामाजिक बाधा के नर-नारी के सुखद मिलन की ओर होगी, स्पष्ट है कि उसे सभी कही आनन्द की वर्षा होती दिखाई देगी। निराला ने ऐसी ही एक स्थिति का वर्णन 'अनामिका' की 'चुंबन' शीर्षक रचना मे किया है—

लहर रही शशिकिरण चूम निर्मल यमुनाजल,
चूम सरित की सलिल-राशि खिल रहे कुमुद-दल;
कुमुदों के स्मिति-मंद खुले वे अधर चूम कर,

बही वायू स्वच्छंद; सकल पथ घूम-घूम कर;
है चूम रही इस रात को वही तुम्हारे मधु अधर,
जिसमें हैं भाव भरे हुए सकल-शोक-संतापहर !

रात के संयोग के उपरांत विरह का प्रभात प्रारंभ होता है। संसार का ऐसा ही नियम है कि स्थायी रूप से किसी को बाँधकर नही रखा जा सकता। निराला की कविता में वियोग की उस स्थिति का भी वर्णन है जो संयोग के तुरंत बाद उत्पन्न होती है। प्रभात होने का तात्पर्य ही है वियोग। नायिका रात के सुख को स्मरण कर और यह सोचकर कि अब उसका प्रियतम उससे विदा लेने वाला है, विकल हो उठती है। विकलता बहुत स्वाभाविक है—

हुआ प्रात प्रियतम, तुम जावगे चले,
कैसी थी रात, बंधु, थे गले-गले !

विरह की दूसरी स्थिति वह है जो आशका से उत्पन्न होती है। जब कोई व्यक्ति किसी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो उठता है, तो पल भर के लिए भी वह उसका वियोग सहन नही कर सकता, यहाँ तक कि संयोग-काल मे भी यह डर लगा रहता है कि किसी दिन यह स्थिति बदल न जाय, यह व्यक्ति बदल न जाय। दूर तो होना ही है; लेकिन किसी दिन उसका प्रेमास्पद कितनी दूर हो जायगा, इसका अनुमान प्रेमी को प्राय: नही होता। ऐसी ही एक आशंका का वर्णन 'परिमल' मे निराला जी ने किया है—

फिर किधर को हम बहेंगे,
तुम किधर होगे,
कौन जाने फिर सहारा
तुम किसे दोगे ?

हम अगर बहते मिले,
क्या कहोगे भी कि हाँ, पहचानते ?
या अपरिचित खोल प्रिय चितवन
मगन वह जावगे पल में
परमप्रिय-संग अतल जल में ?

दूसरे पक्ष से भी ऐसा ही उलाहना इनकी रचनाओं मे पाया जाता है। यह उलाहना प्रेम की अपूर्ति का है। इसमें एक ऐसी प्रेमिका का वर्णन है जिसकी आकांक्षा कभी पूरी नही हो पायी। यह नायिका नायक के प्रणय-व्यापार को अन्य प्रेयसियों के साथ चलते देखती है और एक कोने मे खड़ी चुप-चुप प्रतीक्षा करती है, लेकिन उसकी प्रतीक्षा सूनी ही रह जाती है। एक दिन उसका यौवन और रूप दोनों ढल जाते हैं। अपने दुःख को वह किसी को समझा नही सकती। निश्चित रूप से यह एक ऐसी स्थिति है जिसमे कुछ किया नही जा सक्ता। असफल प्रेम का यह वर्णन काफी मार्मिक बन पड़ा है। 'परिमल' मे 'विकल वासना' नाम से यह रक्षित है।

'गीतिका' के वहुत से विषयों मे से एक विषय प्रेम भी है। जैसे 'परिमल' और 'अनामिका' में वर्णित प्रेम का लक्ष्य विशिष्ट व्यक्ति है, वैसे 'गीतिका' मे नही। यह ठीक है कि वहाँ भाव कहो नारी और कहीं पुरुष के हृदय से फूटा है; पर है वह प्रेम-भाव का सामान्य वर्णन ही। यह वहुत संभव है कि उन गीतों की पृष्ठभूमि मे कही-कही निराला के जीवन के संदर्भ निहित हो, पर वे वहुत स्पष्ट नही हैं। उदाहरण के लिए होली वाला गीत उनके वैवाहिक जीवन की स्मृति से उद्भूत भी हो सकता है, पर वह जीवन की सामान्य स्थिति का सौदर्यपूर्ण चित्रण ही अधिक लगता है। ऐसे ही,—लाज लगे तो जाओ, तुम जाओ—वाली वात अपनी पत्नी से भी कही जा सकती है, प्रेयसी से भी और इन दोनो से पृथक् यह एक स्वाभाविक दशा का अंकन भी लगती

है। 'गीतिका' के गीतों मे 'परिमल' अथवा 'अनामिका' के समान विवरण के लिए स्थान नही है, वे वृत्तियो के सजीव चित्र ही अधिक हैं।

नारी की ओर से जो भाव व्यक्त किए गए हैं उनमें आकर्षण, अनन्यता, अनुनय, प्रतीक्षा और समर्पण का प्राधान्य है। प्रत्येक रचना से वहाँ कोमलता झलकती है और हृदय की विवशता का तीव्रता से अनुभव करती हुई एक समर्पणशीला युवती का चित्र खड़ा होता है। पुरुष की ओर से जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है उनमें एक ओर अगाध तृप्ति है, दूसरी ओर गहरा असंतोष, बीच मे विरह है। अंत मे स्मृति का आधार रह गया है। कुल मिलाकर प्रेम यहाँ एक महती प्रेरणा के रूप मे स्वीकार किया गया है।

प्रेम कहीं पुरुष के माध्यम से व्यक्त हुआ है, कही नारी के माध्यम से। गहराई दोनों ओर पायी जाती है। कवि के हृदय का आत्म-निवेदन कहीं अपनी पत्नी के प्रति है, कही किसी प्रेयसी के प्रति और कही चिरतन नर-नारी के भाव को ही उसने वाणी दी है। इनमे शरीर के सौंदर्य का वर्णन है और मन के सौंदर्य का भी। शारीरिक सुख के वर्णन ऐन्द्रियता के परिचायक भी है और अंतःकरण की उमंग के चित्रण सूक्ष्म आनन्द के विधायक भी। इस प्रकार इनकी कविता मे प्रेम के सभी पक्षों और स्थितियो का वर्णन भावनाओ के विविध स्तरो को छूता हुआ जीवन की पूर्णता का प्रतीक बन गया है।

अध्यात्म-चिंतन

हिंदी-काव्य का दार्शनिक-पक्ष उपनिषदों के आधार पर विकसित हुआ है। वेदों का अंतिम भाग होने के कारण उपनिषद वेदांत भी कहलाते हैं; अतः कहा जा सकता है कि हमारे कवियों की चिंतन-पद्धति का मूल वेदों मे है। उपनिषद् ज्ञान के कांड है। काव्य के आध्यात्मिक तत्त्व इसी अजस्र ज्ञान-निर्झर की अनुगूंज है। यो तो उपनिषदों की संख्या १०८ तक बतायी जाती हैं; पर जबसे शंकराचार्य ने अपने भाष्य द्वारा ११ उपनिषदों को मान्यता प्रदान की, तबसे ये ही विशेष रूप से प्रामाणिक माने जाने लगे हैं। विद्वान् लोग बृहदारण्यक, छांदोग्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, केन, कठ और ईश आदि का ही अब विशेष रूप से अध्ययन-मनन करते हैं। शेष का उल्लेखमात्र करके छोड़ देते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म, जीव और जगत की स्थिति पर विचार किया गया है। उनमे एक ओर ब्रह्म और जीव तथा दूसरी ओर ब्रह्म और जगत मे अभेद-भाव की घोषणा हुई है। जीव भी ब्रह्म ही है और जगत भी अर्थात ब्रह्म के अतरिक्त और कही कुछ नही है। जो दिखाई देता है, वह हमारा भ्रम है। ज्ञान होने पर यह भ्रम मिट जाता है। घुमाफिराकर एक ही परिणाम निकलता है कि अंतिम सत्य के रूप मे सभी कही वही एक अद्वैत तत्त्व व्याप्त है।

इस ब्रह्मवाद का प्रतिपादन निराला की कृतियो मे साहित्यिक स्तर पर हुआ है। 'समन्वय' के संपादक के रूप में वे रामकृष्ण मिशन

के सन्यासियों के सम्पर्क में आए और उनके हृदय पर विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों का प्रभाव पड़ा; पर आगे चलकर उन्होने स्वतन्त्र रूप से भी उपनिषदों का अध्ययन किया। अद्वैत-दर्शन की झलक उनकी प्रारंभिक रचनाओ—'परिमल' और 'गीतिका'—मे विशेष रूप से देखी जा सकती है। 'अनामिका' और 'बेला' मे भी उसका कहीं-कही पुट है।

सभी कवियों के समान निराला ने भी अपनी वात जिज्ञासा से प्रारंभ की है। एक 'कण' के निरीक्षण से न जाने कितने प्रश्न उनके मन मे उठते हैं। वे उसे कभी अट्टालिका मे देखते हैं, कभी पथ की धूल मे कभी वह पराग मे दिखाई देता है, कभी हरहराती आँधी में; कभी वह हास्यमय प्रतीत होता है, कभी अश्रुमय। एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे परिवर्तन के इतने चक्रों को देखकर वे भ्रम मे पड़ जाते हैं। इतना उन्हे अवश्य लगता है कि रज का यह कण विरज होने के लिए शताब्दियो से आकाश की ओर ताक रहा है—इस आशा मे कि संभव है चाँदनी उसे कभी आलोकमय बना दे। कवि आश्चर्य-चकित होकर प्रश्न करता है—

> तुम हो अखिल विश्व में
> या यह अखिल विश्व है तुममें,
> अथवा अखिल विश्व तुम एक,
> यद्यपि देख रहा हूँ तुममें भेद अनेक ?
> पाया हाय न अब तक इसका भेद !
> सुलझी नहीं ग्रंथि मेरी, कुछ मिटा न खेद !

जैसे निराला ने 'कण' को लेकर वैसे ही पंत जी ने 'बीज' को लेकर एक दिन जिज्ञासा की थी। निराला जी की यह रचना कण पर ही नही, कण से निर्मित मनुष्य और उसकी आत्मा पर भी घटित होती

है। यह सच है कि प्रकृति का कण-कण उसके विरह मे आकुल है; पर यहाँ उस साधक पर भी कवि की दृष्टि है जो उस परम चेतन से मिलन के लिए आतुर है।

जिज्ञासा के जगते ही इस सृष्टि से जो परे है, उसके परिचय की कामना स्वभावतः मन मैं जगने लगती है। प्रश्न उठता है : इस तम के पार क्या है ? कौन है ? क्या इस लोक के परे कोई और लोक है ? उसमे कुछ सार है या वह भी इस संसार के समान असार है ? क्या वहाँ अशिव मंगल मे परिवर्तित हो जाता है ? इन प्रश्नो के उत्तर मे कवि इतना ही कहता है कि तुम अपने ज्ञान के नेत्रों को खोलकर इस यवनिका के परे झाँकने का प्रयत्न करो। एक गीत मे निराला ने इन दोनो लोकों की तुलना की है। उनका कहना है कि यह संसार रहने योग्य नही है क्योकि यहाँ ज्ञान मे मोह है, प्रेम मे मान। यहाँ रात-दिन व्यक्ति की परीक्षा ली जाती है और उसका सारा जीवन क्षोभ और निराशा मे व्यतीत हो जाता हैं। इस प्रकार जीवन का सुख उसे ठीक से मिल ही नही पाता; पर वह ऐसा लोक है जहाँ केवल आनन्द है, आलोक है, प्रेम है। कोई पूछ सकता है कि क्या इस लोक मे व्यक्ति प्रवेश पाने का अधिकारी है ? निराला जी का स्पष्ट उत्तर है—हाँ। इस दृष्टि से उनकी 'जागरण' शीर्षक रचना बहुत महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। उसमे साधक की विशेष उपलब्धियो की चर्चा विस्तार से की गई है। कुछ विशिष्ट पंक्तियाँ देखिए—

प्रथम विजय थी वह—
भेदकर मायावरण
पहुँचा मैं लक्ष्य पर।
पाया स्वरूप निज
मुक्ति कूप से हुई;

स्थित मैं आनन्द में चिर-काल
जाल-मुक्त।

जीव और ब्रह्म के मध्य अंतर डालने वाली यह माया है। माया के आकर्षण में बद्ध जीव ईश्वर की ओर जा ही नहीं पाता। इस माया की निराला ने स्पष्ट शब्दों में निंदा की है। उसे उन्होने शीत की यामिनी, पैनी छुरी, विष-वल्लरी और नागिन आदि कहा है। इस प्रकार उसकी भयंकर और वीभत्स मूर्ति को खड़ा करने मे उन्होने कोई कमी नही की। जीव मोह के कारण स्वयं ही माया के बंधन मे पड़ जाता है; नही तो वह नित्य-मुक्त है। उसकी मुक्ति उसके भीतर ही निहित है; अतः इसके लिए उसे कही दूर जाने की आवश्यकता नही है। जीव के वास्तविक रूप की चर्चा उन्होने कई ग्रंथो में कई रूपो मे की है—

(१) पास ही रे, हीरे की खान,
खोजता कहाँ और नादान ?

—गीतिका

(२) बाहर मैं कर दिया गया हूँ,
भीतर, पर, भर दिया गया हूँ।
भीतर, बाहर; बाहर भीतर,
देखा जबसे, हुआ अनश्वर;
माया का साधन यह सस्वर;
ऐसे ही घर दिया गया हूँ।
बाहर मैं कर दिया गया हूँ।

—बेला

(३) पर, क्या है,
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,

बाधा—विहीन—वन्ध छंद ज्यों,
डूबे आनंद में सच्चिदानंद-रूप ।
ब्रह्म हो तुम ।

—परिमल

ब्रह्म और जीव के भेद को 'पंचवटी प्रसंग' मे राम ने अत्यंत स्पष्टता से लक्ष्मण और सीता को समझाया हैं । अभेद की स्थिति ही आनंद की स्थिति है । इस स्थिति को दृष्टि मे रखकर निराला ने 'गीतिका' मे उद्‍बोधन के कई गीत लिखे हैं । भेद से परे होने पर जब प्राणी स्व-रूप को पहचानता है तो वह एक प्रकारसे सत्य से साक्षात्कार करता है । उस समय चारो ओर आनंद की वर्षा होती दिखाई देती है । आध्यात्मिक वातावरण मे आत्मा की आनदमय स्थिति का वर्णन इन पक्तियो मे देखिए—

(१) केवल में, केवल मै, केवल
मै, केवल मै, केवल ज्ञान ।

—परिमल

(२) आगया वन - जीवन-मधुमास,
हुआ मन का निर्मल आकाश,
रच गया नव किरणों का रास,
खेलते फूल ज्योति का फाग ।

—गीतिका

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि निराला जी ज्ञान को कोई अंतिम वस्तु नही मानते । उनकी दृष्टि मे वह भी एक साधन है । उनकी दृष्टि से ज्ञानी को सेवा-परायण होना चाहिए । ज्ञान का तात्पर्य है जनता की अधिक से अधिक सेवा । यह वात 'अनामिका' की 'सेवा-

प्रारंभ' रचना से भी सिद्ध होती है और 'परिमल' की 'अधिवास' से भी। संसार मे जब तक दुःख का अस्तित्व है; तब तक सहृदय व्यक्ति अपनी मुक्ति की तुलना मे लोक-सेवा की ओर अग्रसर होगा—

मैने 'मै'-शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय मे मेरे
झट उमड़ वेदना आई;
उसके निकट गया मै धाय,
लगाया उसे गले से हाय!
छूटता है यद्यपि अधिवास,
किंतु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।
—परिमल

— — — —

प्रार्थना-गीत

भारतीय जीवन मे अध्यात्म का विकास सगुण और निर्गुण दो रूपो मे हुआ है। सगुण के अंतर्गत और बहुत से देवी-देवताओ के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश की आराधना का विधान है। विष्णु के अवतारो के रूप मे राम और कृष्ण की उपासना भी भक्ति के अंतर्गत ही है। निर्गुण के उपासक ब्रह्म को एकमात्र सत्ता स्वीकार करते है। हिंदी-कवियो मे कबीर और जायसी यदि निर्गुण के आराधक थे, तो सूर और तुलसी सगुण के। भक्तो में कुछ कट्टर ढंग के होते है। वे जिस देवता की उपासना मे लीन रहते है, उससे भिन्न किसी को नहीं मानते; दूसरे, उदार स्वभाव के होते हैं जो अपने आराध्य को तो मानते ही है; पर अन्य देवी-देवताओं को भी प्रणम्य समझते है। गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ही स्मार्त्त वैष्णव थे। उनमे साम्प्रदायिक कट्टरता बिल्कुल नही पायी जाती। वे राम के भक्त अवश्य थे, पर किसी भी अन्य देवता को तिरस्कार की दृष्टि से नही देखते थे। 'विनय-पत्रिका' मे इसी से उन्होंने सभी प्रसिद्ध देवी-देवताओं की प्रार्थना की है। आधुनिक युग में ऐसे ही उदारमना श्री मैथिलीशरण गुप्त भी है। जहाँ तक सगुण की उपासना का संबंध है, राम के अनन्य भक्तों में हम तुलसी और मैथिलीशरण, कृष्ण के भक्तों में सूर और मीरा, शिव के भक्तों मे विद्यापति और जयशंकर 'प्रसाद' के नाम ले सकते है। निर्गुण के क्षेत्र मे सूफीमत के अनुयायियों में कुतवन और जायसी तथा भारतीय परंपरा के अनुसार प्रेम

करने वालों मे कबीर और दादू बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। महादेवी की माधुर्य-भावना को कबीर वाली निर्गुण परंपरा का विकसित रूप समझना चाहिए।

अध्यात्म के क्षेत्र मे निराला जी भारतीय परंपरा के उदार दृष्टिकोण को स्वीकार करते प्रतीत होते है। यह दृष्टिकोण व्यापकता और विविधता का पर्यायवाची है। इसे सम्पूर्ण भी कह सकते हैं। इनकी कुछ रचनाएँ जिनमें अद्वैतवाद का प्रतिपादन हुआ है, केवल आध्यात्मिक है जैसे 'पचवटी-प्रसंग। यह अध्यात्म जब भाव के क्षेत्र मे प्रवेश करता है, तो उस पर निर्गुण विचारधारा का प्रभाव समझना चाहिए जैसे 'तुम और मैं' मे। यह ब्रह्म कई रूप धारण करता है। जब वह नारी-रूप मे प्रकट होता है तो कवि उसे 'किरणमयी', 'ज्योत्स्नामयी', 'ज्योतिर्मयी' आदि कहता है, जब पुरुष-रूप मे आता है तो 'देव','करुणाकर' आदि। संबधो मे गहराई आने पर एक ओर वह उसे 'जननि' और 'मा' कहकर पुकारता है, दूसरी ओर 'नाथ' और 'हार' कहकर। भावना की सूक्ष्मता को व्यक्त करने के लिए इसी शक्ति को वह कही 'अरूप' कहता है, कही 'अविनाशी', कही 'परम चेतन'।

भारतीय अध्यात्म-भावना को यद्यपि उन्होने समग्रता मे ही आत्मसात कर लिया है, पर प्रमुख प्रभाव है वेदान्त का। सृष्टि के प्रति हम विरक्त नही हो सकते और सेवा अध्यात्म का अग है, ये दोनों बातें उनकी 'अधिवास' तथा 'सेवा-प्रारंभ' रचना से सिद्ध होती है। इस प्रकार की भावनाओ के मूल में रामकृष्ण मिशन का प्रभाव समझना चाहिए। शक्ति के प्रति भी वे आदर-भाव रखते थे, यह बात विवेकानंद की रचनाओं जैसे 'नाचे उस पर श्यामा,' आदि के अनुवाद तथा 'राम की शक्ति-पूजा' से झलकती है, लेकिन उनके गीतो मे जो 'मा' शब्द आया है, वह बंगालियो की 'मा काली' के लिए न होकर,

आध्यात्मिक मा के लिए है। वहाँ निराला की मा-भावना पंत की मा-भावना के अधिक मेल मे है।

निराला ने अपने रचना-काल के पूर्वार्द्ध मे तो निर्गुण-भाव को विकसित होने दिया है, पर उत्तरार्द्ध मे उनका झुकाव विवेक से अधिक आस्था तथा ज्ञान से अधिक भक्ति की ओर हो गया था। 'परिमल' और 'गीतिका' के लिए जो बात कही जा सकती है, वही बात 'अणिमा' और 'आराधना' के लिए नहीं कही जा सकती। 'अणिमा' मे जो प्रार्थना-गीत हैं, वे भक्ति-भाव से भरे हुए हैं। इनमे भक्तो की सी कोमलता और आर्द्रता पायी जाती है। प्राचीन भक्तो के समान निराला ने भी यहाँ ऐसा विश्वास प्रकट किया है कि भक्ति से हृदय निर्मल होता है जिससे असत् वृत्तियो का विनाश होकर मन को शांति मिलती है। 'आराधना' मे तो स्पष्टतः वे ऐसी पंक्तियो पर आ गए हैं—

(१) कृष्ण-कृष्ण, राम-राम।
(२) हरि भजन करो।

अध्यात्म का शुद्ध सैद्धान्तिक रूप मे विवेचन निराला के 'पंचवटी प्रसंग' मे पाया जाता है। राम का पंचवटी-निवास आत्म-जिज्ञासा के लिए अनुकूल अवसर प्रदान करता रहता होगा। लक्ष्मण जैसे जिज्ञासु और राम जैसे समाधान करने वाले कम ही होते हैं। यह प्रसंग यद्यपि शूर्पणखा से संबंध रखता है; पर उसके आगमन से पूर्व ही राम और लक्ष्मण के वार्तालाप मे निराला ने आत्म-विद्या का प्रसंग उठाया है। यह वार्तालाप तत्त्व-चिंतन की भारतीय परंपरा के एकदम अनुकूल है।

लक्ष्मण ने सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध मे भगवान राम से जो प्रश्न किया है उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि व्यष्टि और समष्टि में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नही हैं। जो भेद दिखाई देता है, वह माया के कारण है। ब्रह्म सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त है। उसके अति-

रिक्त श्रौर कही कुछ नहीं है। ईश्वर की इच्छा ही सृष्टि का कारण है। सृजन श्रौर विनाश होता भी उसी मे है। वह आलोकमय सृष्टि, स्थिति श्रौर प्रलय का कारण भी है श्रौर कार्य भी। सृष्टि के रहस्य को जानने की जिज्ञासा जिस समय प्राणी के मन में उत्पन्न होती है, उसी समय उसकी निर्मल चेतना उसे माया से मुक्त होने का संकेत करती है। जहाँ तक भक्ति, योग, कर्म श्रौर ज्ञान का संबंध है, उनमें कोई भेद नही है। कर्म मे सेवा-भाव मुख्य है। उससे चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त मे प्रेम का उदय होता है। यह दिव्य प्रेम हमें भक्ति की श्रोर ले जाता है। यहाँ तक द्वैत-भाव का प्राधान्य समझना चाहिए। लेकिन जब प्राणी योग में लीन होता है, तब उसे पता चलता है कि जो बाहर प्रतीत होता है, वह उसके भीतर भी है। धीरे-धीरे वह सिद्धि को प्राप्त करता है। लेकिन सिद्धि की प्राप्ति भी श्रहंकार का दूसरा रूप है। इससे श्रागे बढने पर जीव सच्चिदानंद में लीन हो जाता है। यही वास्तविक प्रलय है।

फिर भी एक व्यक्ति के मोक्ष से शेष सृष्टि नष्ट नही हो सकती। प्रकृति के सारे बीज सूक्ष्म रूप से श्राकाश में निहित रहते है। ईश्वर की जब इच्छा होती है सृष्टि तब फिर हो जाती है। यह संसार सत्व, रज, तम तीन गुणों से निर्मित है। श्रंतर इतना ही है कि सृष्टि के श्रस्तित्व-काल में ये एक विशेष श्रनुपात में रहते हैं; पर जब प्रलय होती है तो तीनों सम हो जाते है। परिणाम यह निकलता है कि दृश्य जगत-भ्रम है। ईश्वर ही एक मात्र सत्य है।

ब्रह्म-विद्या का यह प्रसंग श्रद्वैत-दर्शन से प्रभावित है। मोक्ष के श्रनेक साधनो मे से निराला जी ने योग पर विशेष बल दिया है। इसे रामकृष्ण मिशन के सन्यासियो का प्रभाव समझना चाहिए। सामान्य रूप से कर्म श्रौर भक्ति के उपरांत तीसरा सोपान ज्ञान का है; पर यहाँ योग को ज्ञान का समकक्ष बना दिया गया है। राम के इस प्रवचन मे

अधिकारी-भेद बना हुआ है। तत्व की सैद्धान्तिक जानकारी का तात्पर्य यह नहीं है कि इसके उपरांत सब लोग अपने को ज्ञानवान समझकर ब्रह्म घोषित करने लगें। सृष्टि को भ्रम मानते हुए भी उन्होंने भ्रम की सार्थकता स्वीकार की है। ज्ञान होते-होते ही होता है। इसी से उन्होंने एक स्थान पर घोषित किया है—

एक ही है, दूसरा नहीं है कुछ—
द्वैत-भाव ही है भ्रम।
तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।

ईश्वर-जीव के भेद पर राम-लक्ष्मण के बीच ऐसा ही वार्तालाप 'रामचरितमानस' के पंचवटी-प्रसंग मे भी चला है।

परम-तत्त्व के अस्तित्व के उपरांत उससे हमारे संबंध की बात उठती है। वह है—यह तो सत्य है; पर क्या उससे हमारा कोई संबंध भी है, इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर निराला ने 'तुम और मैं' रचना में दिया है। इस संबंध को कवि ने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है।

पहला संबंध है अंगांगी-भाव का। आत्मा-परमात्मा का अंश है। वह उसी से उद्भूत है। परमात्मा हिमगिरि की ऊँची चोटी है तो आत्मा गंगा की धारा, परमात्मा पथ है तो आत्मा रेणु, परमात्मा वृक्ष है तो आत्मा शाखा, परमात्मा कवि-हृदय का उच्छ्वास है तो आत्मा उससे उत्पन्न काव्य, परमात्म प्रेम है तो आत्मा उससे उत्पन्न शांति, परमात्मा सितार है तो आत्मा उससे उत्पन्न रागिनी, परमात्मा नृत्य है तो आत्मा नूपुर की ध्वनि। ये समस्त उदाहरण सत् पक्ष के हैं। लेकिन निराला ने असत् पक्ष को भी लिया है। उसके अंतर्गत परमात्मा को सुरापान से उत्पन्न घोर अंधकार और आत्मा को उस तम से उत्पन्न

भ्रांति माना है। सृष्टि मे सत् और असत् यदि दोनों है तो परमात्मा दोनो का प्रतिनिधित्व करेगा। इस कविता मे कुछ उपमान सात्विक भाव के परिचायक है, कुछ राजस भाव के और कुछ तामस भाव के भी। गीता के दसवें अध्याय मे इसी प्रकार अपनी दिव्य विभूतियो का वर्णन करते हुए कृष्ण ने अपने को छल करने वालो मे जुआ वतलाया है—द्यूतं छलयतामस्मि। ऐसा संदेह होता है कि गीता के इस प्रसंग से निराला ने कुछ न कुछ प्रेरणा अवश्य ग्रहण की होगी। इसका कारण यह है कि 'तुम और मैं' मे जो उपमान परमात्मा के लिए जुटाए गए हैं, उनमें से बहुत-से इस 'विभूति योग' वाले अध्याय मे भी पाए जाते है। उदाहरण के लिए गीता मे कृष्ण ने अपने को हिमालय, किरणो से युक्त सूर्य, पीपल का वृक्ष, शंकर, कुसुमाकर, कामदेव एवं ओंकार वतलाया है। इस समता के होते हुए भी 'विभूति योग' ज्ञान का काड है तथा 'तुम और मैं' काव्य। निराला की रचना को हम अनुकरण नही कह सकते। सृजनात्मक स्तर पर उसका अलग सौंदर्य है।

संबंध का एक सूत्र सम्पर्क के प्रभाव से उत्पन्न परिणाम माना गया है। इसमे सूर्य की किरण और सरसिज की मुस्कान, बालइंदु, और निशीथ के माधुर्य, मधुमास और कोकिल तथा कामदेव और मुग्धा नायिका को ले सकते हैं।

एक दूसरे प्रकार का संबंध ऐसा है जो परंपरा से प्रसिद्ध है। उसके लिए पाठक को किसी प्रकार की कल्पना नही करनी पड़ती, जैसे राम और सीता का, राधा और मनमोहन का, शिव और शक्ति का, ब्रह्म और माया का, पुरुष और प्रकृति का संबंध। व्यक्ति के कर्म के अनुसार भी कुछ वस्तुएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हो गयी है जैसे चित्रकार के साथ तूलिका। इस दिशा मे और अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को समेटना चाहें तो भाव और भाषा, प्राण और काया के उदाहरण देने होगे-अर्थात् विना भाव के भाषा कुछ नही है, ऐसे ही विना प्राण के

काया भी। कहीं-कहीं तुलना के लिए निराला ऐसी भी दो वस्तुओं को ले आए हैं जिनका कोई सीधा संबंध नही है जैसे परमात्मा की तुलना जहाँ उन्होने प्रेमिका के कंठ मे पड़े हार से की है, वहाँ आत्मा की उसकी वेणी से। ये दोनो ही नारी के सौंदर्य को उद्दीप्त करने वाली दो वस्तुएँ हैं। वेणी शरीर से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, हार बाहरी सौंदर्य-प्रसाधन है। लेकिन दोनो का आपस मे कोई अनिवार्य संबंध नही है। हमारी दृष्टि से यह एक दुर्बल तुलना है। इससे तो नभ और नीलिमा वाली तुलना कही अधिक उपयुक्त लगती है, क्योंकि वह एक आवश्यक गुण मे संबंध रखती है। सुंदर रमणी हार को उतारकर भी सुंदर लग सकती है; पर नीलिमा को नभ से पृथक नही किया जा सकता।

निराला जी ने अधिकतर गोचर वस्तुओ को ही तुलना के लिए लिया है; पर उपमान कहीं-कही सूक्ष्म ढंग के भी हैं। इनमे अमूर्त्त कहीं मूर्त्त के साथ हे जैसे आशा पथिक के साथ—यद्यपि यहाँ आशा से तात्पर्य प्रतीक्षारत रमणी का भी हो सकता है, और कही अमूर्त्त अमूर्त्त के साथ जैसे यश और प्राप्ति। आकाश और दिशा, भवसागर और पार जाने की अभिलाषा तथा शुभ्रता और व्याप्ति वाले उपमान भी ऐसे ही सूक्ष्म हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव ब्रह्म से अभेद-भाव से सम्बद्ध है। इस भाव के जगते ही एक प्रकार की उच्चता और गौरव का अनुभव हम करने लगते हैं। लगता है जैसे मृण्मय होने पर भी हम चिन्मय है। यही इस रचना की विशेषता है।

ईश्वर सभी-कही व्याप्त है, इस विश्वास का पहला प्रभाव मनुष्य के हृदय पर यह पड़ता है कि उसे सृष्टि का कण-कण सुन्दर लगने लगता है।'गीतिका'के कई गीतो मे सृष्टि के सौदर्य के प्रति ऐसी दृष्टि पायी जाती है। 'निराला' का कहना है कि उस पावन परस के कारण

सारी प्रकृति व्यक्ति को और ही प्रकार की लगने लगती है। पक्षियों के कूजन मे एक और ही प्रकार का आनंद और फूलों के खिलने मे एक और ही प्रकार की कमनीयता प्रतीत होने लगती है। एक स्थान पर कवि पश्चाताप करता दिखाई देता है। सोचता है उसका जीवन व्यर्थ नष्ट हो गया। संसार के मोह मे पड़कर अपने लक्ष्य की ओर वह बढ़ नहीं सका। यहाँ संसार को उसने असार घोषित किया है। लेकिन संसार की इस असारता का ऊपर की सौन्दर्य-दृष्टि से कोई विरोध नही है। ऐसा समझना चाहिए कि जो दृष्टि संसार को असार घोषित करती है, वही सुन्दर भी। भौतिकता के प्रति विरक्ति होने पर ही उसमे परमचेतन के सौदर्य के दर्शन हो सकते हैं। जहाँ तक कवि का संबध है, वह धूलि का खेल छोड़कर उस पायल की 'रिनरिन' बनना चाहता है—

निशि-दिन तन धूलि में मलिन,
क्षीण हुआ छन-छन मन छिन-छिन।
ज्योति में न लगती रे रेणु;
श्रुति-कटु स्वर नहीं वहाँ
वह अछिद्र वेणु,
चाहता बनूँ उस पग-पायल की रिनरिन।

अपने प्रार्थना-गीतो मे ईश्वर के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए निराला ने उसे कही अविनाशी कहा है, कही अनंत, कही अनिर्वचनीय। इन गीतो मे ईश्वर के दो रूपो की कल्पना की गयी है। कवि जव उसे प्रभु के रूप मे स्मरण करता है, तो चाहता है कि दलित जनो पर वह अपनी करुणा की वर्षा करे। कभी ईश्वर उसे सुन्दरता का प्रतीक दिखाई देता है। तव वह उन सुन्दर चरणों की शरण की कामना करता है—चरण, जिनके स्मरण मात्र से अंतर से गान फूटते हैं। इसके अतरिक्त वह यह भी चाहता है कि इन गीतो को उसकी स्वीकृति प्राप्त हो।

काव्य की कोई सार्थकता नही है यदि वह अपनी प्रेरणा को निवेदित होकर उसके द्वारा स्वीकृत न हो। अपने कर्म के द्वारा हम जिसे प्रसन्न करना चाहते हैं, यदि वही प्रसन्न नही है, तो उस कर्म का फिर महत्त्व ही क्या है ?

ऐसे गीत जिनमें कवि व्यष्टि और समष्टि के कल्याण के लिए प्रार्थना करता है, निराला के काव्य मे बहुत बड़ी सख्या मे पाए जाते हैं। दोनों प्रकार की भावनाएँ देखिए—

(१) करूँ आरती मै जल-जल कर।
गीत जगा लो,
गले लगा लो।
(२) दलित जन पर करो करुणा।
दीनता पर उतर आये
प्रभु, तुम्हारी शक्ति अरुणा।
(३) दूर हो, अभिमान, संशय,
वर्ण - आश्रम - गत महाभय,
जाति - जीवन हो निरामय,
वह सदाशयता प्रखर दो।

अपने इन प्रार्थना-गीतो मे निराला ईश्वर को कही नाविक मानकर उससे जीवन-नैया खेने की याचना करते है, कही हृदय को पवित्र, अचंचल और शांत बनाने की कामना। वे यह भी चाहते है कि लोग सहज-विश्वासी और ऊर्ध्व-चेतन हो। उनकी अभिलाषा है कि उनका देश आदर्श व्यक्तियो को जन्म दे सके। उनकी सबसे गहरी आकांक्षा यह है कि ईश्वर उनकी भावनाओं को सुन्दरता प्रदान करे जिससे वे जग की सुन्दरता को चित्रित कर सकें।

क्या उनका यह सब कुछ माँगना उचित है ? क्या प्रार्थना किसी उद्देश्य से की जाती है ? क्या प्रार्थना का कोई उपयोगी पक्ष होता है ? कुछ कवि इतने अहवादी होते हैं कि ईश्वर से भी नहीं माँगना चाहते। लेकिन माँगने-माँगने मे अंतर होता है। प्रश्न यह है कि माँगनेवाला माँग क्या रहा है। यदि हमारा उद्देश्य स्वार्थपूर्ण है तो गर्हित है, यदि वह पवित्र है तो स्तुत्य है। यदि हम प्रार्थना के द्वारा धन, यश अथवा शत्रु की हानि चाहते हैं, तो हमारा उद्देश्य बहुत निम्न कोटि का है, पर यदि उसी के द्वारा हम अंधकार से आलोक की ओर जाना चाहते हैं, उससे एकाकार की कामना करते हैं, लोक का मंगल चाहते है, तो यह उद्देश्य महत् ही कहलायेगा। देखना यही है कि हमारी प्रार्थना में स्वार्थ का अंश कितना है, परमार्थ का कितना। तुलसीदास ने विनय-पत्रिका मे सभी देवी देवताओ की प्रार्थना की है। उसके द्वारा अंत मे उन्होंने यही चाहा है कि उनके हृदय मे राम की भक्ति दृढ हो। प्रार्थना का यही उच्च लक्ष्य निराला की 'गीतिका' के गीतो तथा अन्य प्रार्थना-गीतो मे भी पाया जाता है।

मनुष्य को ईश्वर की ओर मोड़ने वाले अनेक कारणों में से एक दुःख भी है। जीवन की परिस्थितियाँ ही ऐसी होती हैं कि प्राणी का दुःख से छुटकारा नही हो सकता। विशेष रूप से, जो व्यक्ति जितना सरल, निश्छल अथवा ईमानदार है, दुःख उसे उतना ही अधिक घेरता है। साधको का तो ऐसा विश्वास है कि दुःख उनकी परीक्षा लेने आता है और उसके भीतर से उन्हे शक्ति का संचय करना चाहिए। लेकिन दुःख कभी-कभी इतना असहनीय हो उठता है, जिससे लगता है कि व्यक्ति की अपनी शक्ति व्यर्थ हो गयी है और संसारी लोगो की सहायता भी कुछ काम नही आ सकेगी। ऐसी दशा मे मनुष्य किसी महत् के प्रति आत्म-निवेदन कर बैठता है। सुना गया है कि सच्चा आत्म-निवेदन कभी विफल नही होता। निराला के जीवन मे बहुत से ऐसे

पल आए हैं जब दुःख के भार से दब कर उन्होंने उसे पुकारा है और उनकी यह पुकार सुन ली गयी है। दोनों स्थितियों के चित्र देखिए—

(१) मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?

मेरे दुख का भार झुक रहा;
इसीलिए प्रति चरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर, क्या
महाभार यह झिल न सकेगा ?

(२) मेरे अन्तर में आते हो देव निरंतर—
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कंज बढ़ाकर;
कुसुम-कपोलों पर वे लोल शिशिरकण;
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो,
नव प्रभात जीवन में भर देते हो,

जीवन के दुःख को प्रार्थना ने मिटा दिया है, इसका प्रमाण यदि कोई आस्थाहीन व्यक्ति चाहे तो हमारे पास क्या उत्तर है ? इसकी एक पहचान तो यह है कि हम प्रार्थना से पूर्व और प्रार्थना के उपरांत की अपनी मानसिक स्थितियों की तुलना करें। प्रार्थना के उपरांत यदि हमे अपना मन हल्का लगता है, यदि उसमे प्रसन्नता का आलोक फूटता दिखाई देता है, तो समझना चाहिए कि प्रार्थना ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारंभ कर दिया। प्रार्थना की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि वह दु.ख का रूपान्तर सुख मे कर देती है। लौकिक कामनाओ के स्थान पर आध्यात्मिक चेतना का विकास होने पर दूसरा अतर यह

दिखाई देगा कि मनुष्य की दृष्टि संसार से कुछ हटेगी और वह आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होगा। संन्यासी और कवि मे यह अंतर है कि संन्यासी जहाँ संसार से कटकर दूर हो जाता है, वहाँ कवि संसार मे रहकर ही उसके प्रति आलोकमय दृष्टि पोषित करता है। इसी से संन्यासी की तुलना मे कवि लोक का अधिक कल्याण कर सकता है। संन्यासी केवल अपनी मोक्ष का ही आकांक्षी हो सकता है; संसार की ओर लौटना उसके लिए आवश्यक नही है, पर जिस कलाकार की मान्यताएँ आध्यात्मिक कोटि की होती हैं, वह अपनी कला के द्वारा उस दृष्टि का उन्मेष भी करता है जिसे विकसित कर उसकी आत्मा आनंद का अनुभव करती है। प्रार्थना के माध्यम से निराला ने विश्वास, शांति और आनंद की अनुभूति की है, इसके साक्षी उनके न जाने कितने गीत हैं—

(१) प्रात तव द्वार पर
आया, जननि, नैश अन्ध पथ पार कर,
लगे जो उपल पद, हुए उत्पल ज्ञात,
कटक चुभे, जागरण बने अवदात,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मैं प्राप्तवर—
प्रात तव द्वार पर।

—गीतिका

(२) नाथ तुमने गहा हाथ, वीणा बजी;
विश्व यह हो गया साथ, द्विविधा लजी।
शरण में मरण का मिट गया महादुख;
मिला आनंद पथ पाथ, संसृति सजी।

—बेला

(३) तुमसे लाग लगी जो मन की
जग की हुई वासना वासी,
हारे सकल कर्म बल खोकर,
लौटी माया स्वर से रोकर,
खोले नयन आँसुओं धोकर,
चेतन परम दिखे अविनाशी ।

—आराधना

इस प्रकार निराला के काव्य मे अद्वैतवाद के सैद्धांतिक विवेचन से लेकर भक्ति की चरम रसात्मकता के दर्शन होते हैं। वे तुलसी जैसे भक्त और महादेवी जैसे रहस्यवादी तो नही है, पर अपने सीमित क्षेत्र मे सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि और मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं, यह बात निस्संकोच भाव से कही जा सकती है।

सौंदर्य के चित्र

परम तत्त्व सुंदरता का अजस्र स्रोत है, यही कारण है कि सृष्टि मे राशि-राशि सौदर्य बिखरा पड़ा है। इस सौंदर्य को दो कोटियों मे विभाजित किया जा सकता है (१) लौकिक और (२) अलौकिक। दृश्यमान सौंदर्य के दो रूप हो सकते है (१) मनुष्य का सौदर्य (२) प्रकृति का सौदर्य। इस प्रकार काव्य में तीन प्रकार के सौंदर्य का वर्णन पाया जाता है (१) नर नारी के सौदर्य का (२) प्रकृति के सौंदर्य का और (३) दिव्य सौंदर्य का। एक विभाजन शरीर और मन के सौदर्य का भी हो सकता है; लेकिन इस समय वह हमारा लक्ष्य नही है। फिर भी यह कहने को मन करता है कि पूर्ण सुदर हम उसी को कहेगे जिसमे शरीर और मन दोनो का सौंदर्य समान रूप से पाया जाता हो। कवियो ने अपनी भावना के अनुसार कही तो लौकिक को अलौकिक की सीमा तक पहुँचा दिया है जैसे 'प्रसाद' ने और कही अलौकिक को लौकिक की परिधि मे ला खड़ा किया है जैसे रीतिकालीन कवियों ने। इसके अतरिक्त प्रकृति को एकदम लौकिक कहते नही बनता। हमारी भावना के अनुसार वह कहीं लौकिक प्रतीत होती है, कही अलौकिक। अतः सौदर्य की ये कोटियाँ व्यावहारिक ढंग की या कामचलाऊ ही हैं।

काव्य के नायक और नायिका के रूप मे सुंदरता का वर्णन कहीं अलौकिक शक्तियो से सम्बन्धित है, कही लौकिक व्यक्तियों से। काव्य मे एक ओर अवतारो का सौदर्य है जैसे तुलसी के राम-सीता और सूर

के राधा-कृष्ण का, दूसरी ओर लोक की सुंदर नायिकाएँ हैं जैसे पृथ्वी-राज रासो की संयोगिता, कामायनी की श्रद्धा और 'आँसू' तथा ग्रंथि की प्रेमिकाएँ। कुछ की स्थिति दोनों ओर है जैसे विद्यापति की राधा और जायसी की पद्मावती की।

निराला का सौंदर्य-वर्णन स्थूल और सूक्ष्म दोनों कोटि का है। सौंदर्य के वर्णन मे उन्होंने कही-कहीं अंग विशेष जैसे आँख को लिया है। 'अणिमा' मे एक गीत है—द्रुमदल-शोभी फुल्ल नयन ये। इसमे आँखो के अनेक उपमान जुटाकर अनेक मौलिक कल्पनाएँ की गई हैं। कवि ने उन्हे कही पल्लव के समान, कही श्यामघन के समान और कही प्रेम-पाठ के दो पृष्ठो के समान वतलाया है। ये उपमान प्राचीन होने पर भी व्यंजक हैं। इसके उपरांत नेत्रो के प्रभाव का वर्णन है। वे ज्योति वरसाकर हृदय-कमल को खिला देते हैं। कवि अपनी भावना मे दार्शनिक पुट देते हुए कहता है कि आँखें कुछ खुली हैं, कुछ मुँदी; अतः पता ही नही चलता कि वे खुली हुई हैं अथवा मुँदी हुई। यह स्थिति वैसी ही है जैसे ससार के सम्वन्ध मे यह द्विविधा कि वह नित्य है अथवा अनित्य—

द्रुम-दल-शोभी फुल्ल नयन ये,
जीवन के मधु-गन्ध-चयन ये।
देह-भूमि के सजल श्याम घन,
प्रणय-पवन से, ज्योतिर्वर्षण,
उर के उत्पल के हर्षण-क्षण,
आंदोलन के सृष्ट-अयन ये।
प्रेम-पाठ के पृष्ठ उभय ज्यों,
खुले भी न अव तलक खुले हों,
नित्य अनित्य हो रहे हैं, यों
विविध-विश्व-दर्शन-प्रणयन ये।

आँखों के उपरांत उन्नत पुष्ट उरोजों पर इनकी दृष्टि कहीं-कहीं टिकी है। मेघो से काले, मंद पवन के झोंको से लहराते, आजानु-विलंबित केशों के सौंदर्य को इन्होंने विशेष रूप से पहचाना है। श्वेत सुमनों सी मुस्कान मे इनका हृदय बार बार डूब गया है। यह वही मुस्कान है जिसके प्रभाव से प्रभातकाल मे कलियाँ खिल उठती है। यौवन की तुलना इन्होंने नदी की बाढ़ से की है और उसे जीवन की प्रबल उमंग माना है। इनके नखशिख-वर्णन मे 'पंचवटी-प्रसंग' की 'शूर्पनखा' का रूप विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

हारे हैं सारे नेत्र नेत्रों को हेर-हेर,—
विश्व-भर को मदोन्मत्त करने की मादकता
भरी है विधाता ने इन्हीं दोनों नेत्रों में।
मीन-मदन फाँसने की वंशी-सी विचित्र नासा,—
फूल दल-तुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल,—
चिबुक चारु और हँसी बिजली-सी,—
योजन-गंध-पुष्प जैसा प्यारा यह मुखमंडल,—
फ़ैलते पराग दिङ्मंडल आमोदित कर,—
खिंच आते भौंरे प्यारे।
देख यह कपोत-कंठ
बाहु-वल्ली कर-सरोज
उन्नज उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितंब भार—चरण सुकुमार—
गति मंद-मंद,
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का;
देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है।

नारी-सौन्दर्य के कुछ चित्र ऐसे है जो प्रकृति के माध्यम से व्यक्त

हुए हैं। वर्णन है जुही और शेफाली का, आशय है नारी से। ये चित्र भोग के हैं, फिर भी कामना यहाँ बहुत उद्दाम नही प्रतीत होती। ये ऐसी उनींदी रमणियों के चित्र है जिनके पास उनके प्रणयी रस की आशा से खिचकर आते है। नायिकाओं का यौवन उभार पर है, शरीर शिथिल; कामना तरंगें ले रही है, लज्जा उन्हे बाँधे हुए है। सौभाग्य से उनके प्रणयी उनके हृदय की बात को समझते हैं। क्रीड़ा-रत नायक-नायिकाओ के ये चित्र जीवन के स्वास्थ्य, सौंदर्य और माधुर्य के परिचायक हैं।

प्रथम कोटि के चित्रों से ये चित्र कुछ कम मादक है। वहाँ कवि की दृष्टि नारी के अंगों पर सीधी पड़ती है; अतः वे अधिक उत्तेजक लगते हैं। यहाँ नारी उपलक्ष्य मात्र है; इसी से वासना छनकर पाठक तक पहुँचती है।

तीसरी कोटि के चित्र दिव्य सौंदर्य के चित्र हैं। ये 'गीतिका' मे पाए जाते हैं। इनमे कवि ने देश-काल के प्रभाव से परे विश्व-सुन्दरी का चित्र अंकित किया है। समस्त सृष्टि मे जो सौंदर्य बिखरा पडा है, मानो वही पुंजीभूत होकर इन गीतो में 'ज्योति की तन्वी' के रूप मे मूर्तिमान हो गया है। इस रूप-राशि को निराला की मानस-प्रतिमा कह सकते हैं। इसके दर्शन से मन मे पवित्रता की भावना जगती है, जीवन का शोक मिट जाता है और कल्पना मे प्रतिभा के पंख लग जाते हैं। एक चित्र देखिए—

कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना।
सीखा केवल हंसना—केवल हंसना—
मंद मलय भर अंग-गंध मृदु,
बादल अलकावलि कुंचित ऋजु,

तारक हार, चंद्र मुख, मधु ऋतु,
सुकृत-पुंज-अशना ।
शुभ्र-किरण-वसना ।

इस प्रकार सौंदर्य के वर्णन में निराला वासना से मानसिकता और मानसिकता से दिव्यता की ओर बढ़ गए हैं ।

ओज की अभिव्यक्ति

हिन्दी-काव्य मे ओज की अभिव्यक्ति व्यवस्थित रूप मे भी हुई और फुटकर प्रसंगों के रूप में भी। स्फुट रचनाकारों मे हम गंग पद्माकर से लेकर 'रत्नाकर' तक का नाम ले सकते हैं। तुलसी के रामचरितमानस और केशव की रामचन्द्रिका मे युद्ध के वर्णन भी ओज के उल्लेखनीय उदाहरण हैं। यों हमारे काव्य का प्रधान विषय अभी तक शृंगार ही है, वीर, शांत अथवा हास्य नही। ओज की पहली स्वाभाविक अभिव्यक्ति वीर गाथा-काल मे हुई, दूसरी औरंगजेब के शासन-काल मे, तीसरी आधुनिक-काल मे। इन तीनो कालो के प्रतिनिधि कवियों मे हम चन्दवरदाई, भूषण और मैथिलीशरण गुप्त के नाम ले सकते है।

हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाओं का जन्म युद्ध की गोद मे हुआ, युद्ध-प्रिय-जाति की यशगाथा गाने के लिए हुआ, युद्ध-भावना को जन्म देने और जगाने के लिए हुआ, ऐसे व्यक्तियों के द्वारा हुआ जो लेखनी उठाना ही नही, खड्ग खींचना भी जानते थे। वे केवल राजदरबार मे ही अपनी वाणी की गूंज न छोड़ते थे, रणभूमि मे भी सैनिकों में उत्साह भरते थे। वह काल एक ओर विदेशी लुटेरों और राज्य-लोलुपों के भयंकर आतंक का और दूसरी ओर राजपूतों की आपस की कलह और विद्वेष की अग्नि में उनकी समृद्धि के स्वाहा होने का था। देश मंडलों मे बंटा हुआ था और एक दूसरे को हानि पहुँचाकर, अपमानित

करने मे ही राजपूत अपना गौरव समझते थे। जहाँ देश एक विदेशी डाकू से सत्रह बार लुट जाय और वहाँ की जनता तथा शस्त्रधारी सेना कुछ न कर सके, इससे अधिक जातीय ह्रास और आपस की फूट का ज्वलंत उदाहरण और क्या हो सकता है ? मोहम्मद गोरी का सामना करने के लिए पृथ्वीराज कटिबद्ध हो और जयचन्द जैसा प्रतापी राजा देश का साथ न दे, इससे बड़ा आत्मिक पतन और क्या होगा ? अपने-अपने वंश की श्रेष्ठता, निजी स्वार्थ और व्यक्तिगत कलह ने राजपूतों को असमर्थ बना दिया था और क्योंकि युद्ध-कला उनकी अपनी कला थी; अतः सामान्य प्रजा सैनिक शिक्षा के अभाव मे कुछ विशेष सहायता न कर पाती थी। जिस समय विदेशियों के आक्रमण नहीं होते थे, उस समय राजपूत अपनी शक्ति का परिचय एक दूसरे को देते रहते थे। यदि रासो मे पृथ्वीराज के विवाह और युद्धों पर विश्वास किया जाय, तो समझना चाहिये कि विना युद्ध के विवाह हो ही नहीं सकता था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की गँवारू कहावत को यदि दूसरे शब्दों मे कहना चाहें, तो 'जिसकी तलवार उसकी राजकुमारी' कहना होगा।

अतः उस समय वीरता की बात सुहाती और सुनी जाती थी। भूपति कवियो का मान करते थे और उन्हे आश्रय-दान देते थे। पृथ्वीराज के यहाँ महाकवि चंद, जयचंद के यहाँ भट्ट केदार और परमाल के यहाँ जगनिक जैसे वाणी-सिद्ध कवि रहते थे। इन तीनो ने क्रमशः पृथ्वीराज रासो, जयचंद प्रकाश और आल्हा जैसी प्रसिद्ध रचनाओ को जन्म दिया। पृथ्वीराज रासो तो वीररस-प्रधान हिंदी का प्रथम महाकाव्य है।

वीर-काव्य के विकास की दूसरी संभावना मुगल-साम्राज्य के विघटन-काल में खड़ी हुई। औरंगज़ेब की धार्मिक कट्टरता और संकीर्ण राजनीति के कारण मुगलों का वैभव ध्वस्त होने लगा। उसके शासन-

काल में दक्षिण मे मराठों और पश्चिम में सिक्खों ने विद्रोह किया। जाटो और राजपूतों के विद्रोह भी इसी काल में प्रारंभ हुए। इन विद्रोहों मे मराठा शिवाजी, बुंदेला छत्रसाल और राजपूत दुर्गादास के विद्रोहों ने औरंगजेब को सुख की नीद न सोने दिया। भूषण का आविर्भाव ऐसी ही परिस्थितियों मे हुआ। भूषण शिवा जी के आश्रय में तो रहे ही, वे छत्रसाल के सम्पर्क में भी आए। शिवा जी के समान छत्रसाल के शौर्य का वर्णन भी उन्होंने ओजपूर्ण वाणी में किया है। एक के लिए उन्होने 'शिवा बावनी' की रचना की, दूसरे के लिए 'छत्रसाल-दसक' रचा।

हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने चंद को 'चारण' और भूषण को 'हिंदू जाति का प्रतिनिधि कवि' कहा है। इसके पीछे जो आशय निहित है, उसे एक सीमित अर्थ मे ही स्वीकार करना चाहिये। चंद और भूषण असत् के विरुद्ध सत् का पक्ष लेने वाले कवि हैं। मोहम्मद गोरी और औरंगज़ेव दोनो ही आततायी और अत्याचारी थे। अतः उनके विरुद्ध शस्त्र उठाने वालो का पक्ष यदि इन कवियों ने लिया तो कोई अनुचित अथवा अराष्ट्रीय काम नही किया। यह ठीक है कि राष्ट्रीय भावना का प्रयोग बीसवी शताब्दी में जिस अर्थ मे होता है, बारहवी और अठारहवी शताब्दियो मे उस अर्थ मे नही हो सकता था। फिर भी चंद, भूषण और मैथिलीशरण सभी समान रूप से अपने देश को प्रेम करते रहे है। इस युग मे महात्मा गांधी के नेतृत्व में जब राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास हुआ, तो गुप्त जी के अतरिक्त और भी कुछ कवियों ने अपनी देश-भक्ति की भावना को वाणी दी। इनमे हम माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सुभद्राकुमारी चौहान के नाम ले सकते है।

व्यापक दृष्टि से देखे तो 'भारतमाता', 'शत-शत बार प्रणाम्', 'समर शेष है' जैसी देश को सीधे संबोधित रचनाएँ ही देशानुराग की

परिचायक नही है, भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाटक 'भारत दुर्दशा' मे आयी कविताएँ और 'भारत-भारती' भी उसी भावना से प्रेरित है। चंद के पृथ्वीराज-मुहम्मद गोरी युद्ध, तुलसी के राम-रावण-संग्राम तथा भूषण के शिवा-औरंगज़ेब संघर्ष के पीछे भी देश-प्रेम की भावना काम कर रही है। अतः 'झांसी की रानी' पर लिखी कविता में राष्ट्रीय-भावना और 'छत्रपति शिवा जी' पर लिखे छंदों मे जातीय भावना बताना हमारी तो कुछ समझ मे नहीं आता। क्या शिवा जी केवल उतनी भूमि के लिए युद्ध कर रहे थे, जिस पर उन्होंने शासन किया ? सफल हुए हो अथवा न हुए हों, पर क्या उनके संघर्ष के पीछे कोई महान् आदर्श न था ? उचित तो यही प्रतीत होता है कि चंद, तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण, प्रसाद, माखनलाल, नवीन, पंत, दिनकर, भगवतीचरण और सुभद्राकुमारी चौहान आदि सभी को देश-प्रेमी मानकर उनके काव्य का सम्मान किया जाय। यह अपने आश्रयदाता का प्रशंसक मात्र है, यह केवल हिंदुओ का कवि है, यह मात्र पुनरुत्थानवादी है, ऐसे भेद-भरे नारे अब वंद होने चाहिए।

देश के स्वाधीनता-संग्राम के दिनों मे जीवित रहकर निराला जैसा स्वतंत्र-चेता कवि अप्रभावित रह जाता, यह तो संभव नही प्रतीत होता; पर उनकी राष्ट्रीय-चेतना एक दूसरे ही स्तर पर विकसित हुई। 'वनबेला' वाली रचना मे उन्होने देश के अवसरवादी नेताओं पर व्यंग्य करते हुए उन पर 'पैसे मे दस राष्ट्रीय गीत लिखकर' वेचने वाले कवियो की निंदा की है। इससे लगता है कि जहाँ तक उनका संवंध था, वे अपनी रचनाओं का स्तर व्यापक, ऊंचा और कलात्मक रखना चाहते थे।

अपने अंतःकरण मे निहित राष्ट्र-प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये वे अतीत मे गये है। 'अनामिका' मे प्रकाशित 'दिल्ली' शीर्षक रचना मे महाभारत-काल से लेकर मुगलों के शासन-काल तक देश के इतिहास

का सिंहावलोकन करते हुये उसके शौर्य, ज्ञान, गौरव और वैभव का उन्होंने स्मरण किया है। उस स्वर्ण अतीत को आँखों के सामने लाते हुये और देश की वर्तमान अधोगति से उसकी तुलना करते हुए उन्होंने करुण उच्छ्वास के साथ बार-बार एक ही प्रश्न किया है—क्या यह वही देश है ?

अतीत से प्रेरणा ग्रहण करने वाली उनकी दूसरी रचना 'महाराज शिवा जी का पत्र' है। दक्षिण में शिवा जी का प्रभाव बढ़ने पर बीजापुर के सुलतान ने उनका सामना करने के लिए अपने सेनापति अफजल खाँ को भेजा जो सन् १६५९ मे शिवा जी के हाथ से मारा गया। इस समाचार से औरंगज़ेब चिंतित हो उठा और उसने इस मराठा वीर की शक्ति को कुचलने के लिए शायस्ता खाँ को नियुक्त किया। शायस्ता खाँ पूना में आकर रुका, जहाँ एक बरसात की रात मे शिवा जी ने उसकी सेना पर भयंकर आक्रमण किया और वह किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर भागा। इसके उपरांत सन् १६६४ मे सूरत पर चढ़ाई कर शिवा जी ने नगर को लूट लिया। शायस्ता खाँ के पलायन और सूरत की लूट के समाचार से औरंगज़ेब बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने एक बड़ी सेना देकर शाहज़ादा मुअज्ज़म को राजा जयसिंह के साथ रवाना किया। यह पत्र उसी अवसर पर लिखा गया बताया जाता है। भाषा कैसी ही रही हो; पर आशय कुछ ऐसा ही रहा होगा।

पत्र बहुत ओजपूर्ण भाषा मे लिखा गया है। शिवा जी ने जयसिंह को सूर्यवंशी राम का वंशज बताकर उसके हृदय मे गौरव की भावना जाग्रत करने का प्रयत्न किया है, साथ ही भारत-उद्यान का नायक और रक्षक कह कर उसके अहं की तुष्टि भी कर दी है। हिंदू धर्म, हिंदू जाति और हिंदू सभ्यता का उल्लेख इसलिये बार-बार किया गया है जिससे उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो सके। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये विचार शिवा जी के हैं, निराला के नही, अतः जातीय भाव-

नाओं के प्रकटीकरण से भूषण के समान निराला को भी हिंदुओं का कवि घोषित करने लगना, उनके प्रति अन्याय ही नही, अपनी दुर्बुद्धि का परिचय भी देना होगा। हमारी समझ में तो यह रचना अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय भावनाओं का पोषण करती है। इसका मुख्य उद्देश्य—जैसा शिवा जी ने जयसिंह के लिए लिखा है—हृदय की आँखें खोल देना ही है। ऐसा न होता तो फिर निम्नलिखित अंशों की क्या सार्थकता है ?

(१) हाय री दासता !
पेट के लिए ही
लड़ते हैं भाई भाई—

(२) सोचो तुम
उठती जब नग्न तलवार है स्वतंत्रता की,
कितने ही भावों से
याद दिला घोर दुःख दारुण परतंत्रता का,
फूंकती स्वतंत्रता निज मंत्र से
जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु
रेणु-रेणु जो न हो जाय ?
इसीलिए दुर्जय है हमारी शक्ति।

(३) जितने विचार आज
मारते तरंगें हैं
साम्राज्यवादियों की भोग वासनाओं में,
नष्ट होंगे चिरकाल के लिए।
आयेगी भाल पर

भारत की गई ज्योति,
हिंदुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के पाश कट जायँगे।

जैसे 'महाराज शिवा जी का पत्र' मे मराठों की शक्ति का परिचय मिलता है, वैसे ही 'जागो फिर एक वार' मे गुरु गोविंदसिंह के माध्यम से सिक्खों के वीर-भाव की व्यंजना हुई है। इस रचना मे एक वहु-प्रचलित भ्रम को दूर करने का प्रयत्न निराला जी ने किया है। योग्य-तम को ही जीने का अधिकार है—यह उक्ति पश्चिम से आयी वतायी जाती है; पर इसका उद्घोष तो वहुत पहले हमारी 'गीता' मे हुआ है। हमारे ज्ञानपरक ग्रंथो का संदेश है कि आत्मा सच्चिदानंद स्वरूप हैं, मनुष्य ब्रह्म है। यदि यह सव सत्य है तो फिर दीनता का भाव हमारे भीतर क्यो आना चाहिये ? इस प्रकार चाहे व्यवहार की दृष्टि से देखें, चाहे ज्ञान की, भारतीयो के हृदय का प्रेरक भाव ओज है,—दीनता नही। इसीसे उद्वोधन के स्वर मे उन्होने कहा है—

योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है—
स्मरण करो वार-वार—
तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज भर-भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार
जागो फिर एक वार !

स्मरण रहे कि 'जागो फिर एक वार' की रचना सन् १९२१ मे, 'महाराज शिवाजी का पत्र' की १९२२ मे और 'दिल्ली' की १९२४ मे हुई। ये असहयोग-आंदोलन के वर्ष थे।

इन ओजपूर्ण रचनाओं के साथ निराला के देशानुराग की थोड़ी चर्चा करना भी आवश्यक है। देश-प्रेम का अर्थ है देश के विराट स्वरूप से परिचित होना। इस गौरवशाली रूप के कई चित्र 'गीतिका' मे सुरक्षित हैं। एक भव्य चित्र देखिए—

भारति, जय, विजय करे!
कनक—शस्य—कमल धरे!

लंका पदतल शतदल,
गर्जितोर्मि सागर-जल,
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे!

तरु - तृण - वन - लता - वसन,
अंचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल — कण
धवल धार हार गले।

मुकुट शुभ्र हिम - तुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख — शतरव मुखरे!

देश के भौगोलिक रूप से तो परिचित होना ही चाहिए, क्योंकि उस परिचय के बिना प्रेम कैसे उत्पन्न होगा? उसकी संस्कृति से भी परिचित होना आवश्यक है, क्योंकि वह उसकी आत्मा है। इस आत्मा में झाँकने पर ही श्रद्धा उमड़ेगी। इस अनुराग और श्रद्धा का प्रतीक है—मा। देश भूमि का प्रसार मात्र नहीं है, वह हम सबकी मा है।

इस रागात्मक सम्बन्ध के स्थापित होते ही देश का सुख-दुःख हमारा सुख-दुःख हो जाता है, देश का सम्मान-अपमान हमारा सम्मान-अपमान। जीवन का ऐसा कौन-सा त्याग है जो हम अपनी इस मा के लिए न कर सकें ? इसी से निराला ने कहा है--

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, मा,
मेरे श्रम-संचित सब फल।
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल,
दृगजल से पा बल, बलि कर दूं,
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल।
क्लेदयुक्त अपना तन दूंगा
मुक्त करूंगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि,
सकल श्रेय-श्रम-संचित फल।

———

करुणा के प्रसंग

सभ्यता के विकास के साथ एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य की स्थिति में अंतर पड़ता चला गया है। एक धनी है दूसरा दरिद्र, एक शक्तिशाली है दूसरा दुर्बल, एक साधन-सम्पन्न है दूसरा साधनहीन। यह बाह्य असमानता की बात हुई; पर मनुष्य जाति एक है और आत्मा भी सब मे समान रूप से व्याप्त है। यही कारण है कि मनुष्य का हृदय इस बाह्य असमानता और आंतरिक एकता मे सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता रहता है। भावना-प्रधान व्यक्ति इस अंतर से बहुत क्षुब्ध रहता है। शोषक और शोषित शब्दों का प्रचार तो अब हुआ है; पर मानवीयता की भावना बहुत पुरानी है। बाहरी भेद-भाव रहने पर भी मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह दूसरों के दुःख से विचलित हो उठता है। यदि वह किसी की कोई सहायता नहीं कर सकता, तो उसके प्रति सहानुभूति तो प्रकट कर ही सकता है।

वर्तमान-युग में जीवन-यापन की कठिनाई और निजी स्वार्थ के कारण मनुष्य का हृदय कुछ कठोर होता जा रहा है;, अतः करुणा के उद्रेक के लिए इस बात की आवश्यकता है कि उसकी सहृदयता नष्ट न हो। जिस मनुष्य का हृदय जितना निर्मल होगा, उसके अंतःकरण मे करुणा का प्रतिबिंब उतनी ही स्पष्टता से जागेगा। सभी के समान दीन प्राणी भी सुखी रहे या कम से कम दुःखी न हो, करुणावान व्यक्ति इतना तो चाहता ही है। यह भावना मानवता के उच्च आदर्श से उद्भूत

होती है; पर मन के स्वास्थ्य के लिए भी इसकी कम आवश्यकता नहीं है। जब तक हमारे आस-पास का संसार सुखी और प्रसन्न नही होगा, तब तक हम भी सुखी और प्रसन्न नही रह सकते। इस प्रकार जीवन की विषमता से उत्पन्न हृदय की अशांति के लिए करुणा एक उपचार है।

जीवन के दुःख पर सक्रिय और निष्क्रिय दोनों प्रकार के मनोवेग जन्म लेते हैं। सामान्य रूप से दूसरो का दुःख हमे कुछ न कुछ करने के लिए बाध्य करता है; पर जिनकी भावनाएँ किसी प्रकार कुंठित हो जाती हैं, वे प्रायः उस आवाज़ को नही भी सुनते, और सुनते भी हैं तो अनसुनी कर जाते है। इसके विपरीत संसार मे ऐसे प्राणियों की भी कल्पना की जा सकती है, जो दूसरों के दुःख से लाभ उठाने मे संकोच या लज्जा का अनुभव न करें। अकाल, महामारी और युद्ध से लाभान्वित होने वाले क्रूर प्राणियों की किसी युग में कमी नहीं रही।

काव्य में करुणा के प्रसंग कवि की मनोग्रंथि को खोलने के साथ उसके मानव-धर्म के पालन में भी सहायता पहुँचाते हैं। वे क्योंकि अंतर की गहराई से उमड़ते हैं, अतः लोक-मंगल की दृष्टि से भी बड़े उपयोगी होते हैं। उनमे क्रूर से क्रूर व्यक्ति को प्रभावित करने की शक्ति होती है। साहित्य का उद्देश्य यदि मनुष्य के हृदय मे मानवता का विकास कर उसे एक दूसरे के निकट लाना है, तो ये प्रसंग इस लक्ष्य की सिद्धि बहुत अच्छी तरह करते है।

निराला के वास्तविक जीवन मे करुणा, दया और सहानुभूति के ऐसे अनेक प्रसंग पाए जाते हैं, जब उन्होने अपनी सामान्य सुविधाओं का ध्यान न रखकर अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्ति के दुःख को कम अथवा दूर किया। उनके अंतःकरण का पात्र मानवता के रस से लबा-लब भरा हुआ था। आधुनिक काल के साहित्यकारो मे ऐसा परदुःख-कातर व्यक्ति दूसरा नही हुआ। अपने काव्य मे भी इसी से उन्होने

मनुष्य के गंभीर दुःख को पहचाना है।

'दान' शीर्षक रचना मे इन्होंने मनुष्य के प्रति मनुष्य की उस निर्मम उपेक्षा की चर्चा की है जो धर्म के कारण जाने या अनजाने होती ही रहती है। रचना लखनऊ की पृष्ठभूमि पर आधारित है। एक वासंती प्रभात मे जब वन-उपवन मे भ्रमरों का मधुर गुंजन छाया हुआ है, जब मल्लिका, मधुमालती, कुंद और अरविंद खिल उठे हैं, जब पलाश और अमलतास मुस्करा रहे है और जब सौरभ-वसना समीर कानों मे प्राणों की कथा कहती बह रही है; तब कवि वायु का सेवन करते-करते एक प्रभात मे गोमती के पुल पर जा खड़ा होता है। वहाँ एक ओर उसे भिक्षुक दिखाई देते हैं, दूसरी ओर वंदर। चारों ओर अपरिसीम सौदर्य को बिखरे देख वह इस परिणाम पर पहुँचा था कि प्रकृति अपने दान मे अत्यंत उदार है और मनुष्य उसकी सर्वश्रेष्ठ विभूति है। परन्तु कंकालशेष भिक्षुओ को देखकर उसका मन सहसा उदास हो जाता है। इतने वैभव के बीच ये लोग इतने दुःखी क्यों रहते हैं, वह सोच ही नही पाता। इसी समय उसकी दृष्टि एक रामभक्त पंडित जी पर पड़ती है, जो तट पर बने मन्दिर मे शिव की पूजा समाप्त कर उधर ही आ रहे हैं। उनके हाथ मे पुए हैं। कवि की धारणा के विरुद्ध ब्राह्मणदेव उन पुओ को वंदरों को खिलाकर आगे बढ़ जाते हैं और उन अभिशप्त भिखारियों की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखते। इस घटना से कवि को बड़ा आघात लगता है। मनुष्य के प्रति मनुष्य के इस ठंडे व्यवहार पर वह चकित रह जाता है।

यह करुणामूलक रचना धार्मिक विश्वासों पर बहुत बड़ा व्यंग्य करती है। पंडित जी राम के उपासक हैं। राम के हृदय के निकट दो ही देवता हैं—शिव और हनुमान। शिव पर जल चढाकर और हनुमान के प्रतीक वन्दरों को पुए खिलाकर वे दोनों को एक साथ प्रसन्न करना चाहते हैं। इनके प्रसन्न होने से फिर राम भी प्रसन्न हो ही जायंगे, ऐसा

उनका विश्वास है। धर्म का रूप इसी प्रकार विकृत हुआ है। उसके मूल तत्व को भुलाकर मनुष्य रूढ़ियों का पालन करता आ रहा है। वह संभवतः अधिक सोचता भी नहीं—सोचने की उसमे शक्ति ही नही रह गयी है। हो सकता है पंडित जी यहाँ तक सोचते हो कि यहाँ बन्दरों को पुए खिलाने से मरने के उपरांत स्वर्ग मे खाने को मालपुए मिलेंगे।

पंडितजी जिस रूढ़ि के पालन को धर्म समझ रहे हैं, वह धर्म नही है, क्योंकि उससे एक और बड़े धर्म का विरोध है। वह धर्म है—मानव धर्म। जिस धर्म से मानव का तिरस्कार होता हो, वह दूषित है, त्याज्य है। अपनी आंखो से मनुष्य को भूख से तिलमिलाते देखना और बंदरो को पुए खिलाना धर्म का लक्षण नहीं है। अतः जैसा पहले ही संकेत कर चुके हैं, धर्म के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान न होने से यह रचना करुणा का प्रभावशाली उदाहरण प्रस्तुत करती है।

'विधवा' सामाजिक-अत्याचार की कहानी है। इसमे भारत की विधवा नारी का करुण चित्र अंकित किया गया है। विधवा वह नारी है जो जीवन के सुख का किसी रूप में उपभोग नहीं कर सकती। इसके लिए कवि ने देव को दोषी ठहराया है। वह संभवतः इसलिए कि हमारे देश मे विधवा होना नारी के किसी पूर्वजन्म के पाप का फल माना जाता है। यों शरच्चंद्र की भाँति निराला ने भी विधवा-विवाह के पक्ष मे कोई तर्क नहीं उपस्थित किया। उन्होंने केवल एक आश्रय-हीना नारी की वेदना की थाह नापने का प्रयत्न किया है। कहने की आवश्यकता नही कि इस करुण चित्र का पाठक के मन पर वांछित प्रभाव पड़ता है—.

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीपशिखा-सी शांत भाव में लीन,
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी,

वह टूटे तरु की छुटा लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है ।

'तोड़ती पत्थर' आर्थिक विषमता की रचना है। पृष्ठभूमि है इलाहाबाद की। जैसे 'दान' में वरदानी वसंत का वर्णन है, वैसे ही प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इसमे भयंकर ग्रीष्म को आँखों के सामने खड़ा किया गया है। तवे-सी जलती धरती और शरीर को झुलसाने वाली लू मे एक मजदूरनी पत्थर तोड़ने का काम कर रही है। सामने ऊँची हवेली है, उसका प्राचीर है, पास मे वृक्षों की शीतल पाँति है। हवेली मे भी कोई रहता होगा; लेकिन मजदूरनी का उससे कोई संबंध नही। यो यह अट्टालिका इसी जैसे प्राणियों के श्रम पर खड़ी हुई है। श्रम करना वुरा नही है; पर हमारे देश मे श्रम और सम्मान का कोई संबंध नही है। यहाँ का श्रमिक तो रूखी-सूखी रोटी खाकर जैसे-तैसे जीवित रहता है। उदर के लिए कैसे ही अन्न जुट सके, इसी से यह मजदूरनी भी निदाघ की तप्त दोपहरी मे माथे से बार-बार पसीना पोछती हुई पत्थर तोड़ने का काम कर रही है। कवि अपनी अंतर्दृष्टि से जीवन के भारी बोझ के एक असाधारण क्षण को कला के स्पर्श से बाँधकर हमारे अंतःकरण की राशि-राशि करुणा उस अपरिचिता के चारो ओर उड़ेल देता है—

देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
'मै तोड़ती पत्थर-।'

पर क्या दुःख की कठोर शिला को वह कभी तोड़ सकेगी ?

'ग्राम्या' मे 'मजदूरिनी के प्रति' पंत जी की भी एक रचना संकलित है। नारी के प्रति स्वस्थ दृष्टि की परिचायिका इस कविता मे उन्होने श्रम के सौंदर्य को पहचानने का प्रयत्न किया है।

भिखारियों की समस्या व्यक्ति की सहानुभूति अथवा सामूहिक दान के आधार पर नही सुलझायी जा सकती, इसी से 'भिक्षुक' शीर्षक रचना एक राष्ट्रीय समस्या के रूप मे हमारे सामने आती है। राज्य ही इस कलंक को मिटा सकता है और उसे मिटाना भी चाहिए। मनुष्य की विवशता इससे अधिक और क्या हो सकती है कि वह किसी दूसरे की जूठन चाटे और उसके लिए सड़क पर झगड़ते कुत्तों से लड़े। मनुष्य की इस विवशता के लिए आखिर कौन उत्तरदायी है ? हम आए दिन ऐसे करुण दृश्यों को देखते हैं और आगे बढ़ जाते है। हम इतने उदासीन हैं कि ऐसी घटनाएँ हमारे हृदय में कोई स्पंदन नहीं जगाती, हम इतने सहिष्णु हैं कि हमारा रक्त एक क्षण के लिए भी नही खौल उठता, हम इतने बुद्धिमान हो गए हैं कि ऐसे व्यर्थ के झमेलो मे अपना समय नष्ट करना नही चाहते ! पर कवि तो जैसे पुकारकर कहता है—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछता पथ पर आता !
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुंह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता !

मज़दूरनी, भिक्षुक और विधवा के ये चित्र इसलिए अंकित नही किए गए हैं कि देश मे आर्थिक विषमता, सामाजिक अत्याचार और धार्मिक अंध-विश्वास बना रहे। निश्चित रूप से कवि उन्हे मिटाना चाहता है। उसकी करुणा सक्रिय कोटि की है। इसीसे उसने कहा है—

> ठहरो, अहा, मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूंगा,
> तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूंगा।

हास्य-व्यंग्य

छायावाद-युग मे कुछ ऐसे कवि भी साधना कर रहे थे जो सूक्ष्मता की अतिशयता के विरोधी थे जैसे भगवतीचरण वर्मा और दिनकर। आगे चलकर कुछ अन्य कवियो ने विषय ही नही, अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी काव्य को वांछित सरलता प्रदान की। इनमे 'बच्चन' मुख्य हैं। इसी समय प्रगतिवाद का आंदोलन प्रारंभ हुआ और कविता धरती के और भी निकट आगयी। इस आंदोलन को गद्य मे यशपाल और पद्य मे नागार्जुन से विशेष बल मिला। व्यंग्य प्रगतिवादी कविता मे खूब पनपा। छायावादी कवियों मे 'प्रसाद' की मृत्यु सन् १९३७ मे होगयी। वे जीवित भी रहते तो प्रगतिवाद का साथ देते या नही, कहा नहीं जा सकता। लोक-जीवन के प्रति महादेवी का अनुराग उनके गद्य-साहित्य —अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएं और शृंखला की कड़ियाँ—मे प्रस्फुटित हुआ। पंत और निराला दोनो ने समय की गति को पहचानकर अपने काव्य को नया मोड़ दिया। पंत का झुकाव गांधीवादी दर्शन से मार्क्सवाद की ओर हुआ। निराला व्यंग्यकार हो गए। 'कुकुरमुत्ता' (१९४२) और 'नये पत्ते' (१९४६) इस बात का प्रमाण हैं।

छायावाद के ह्रास और प्रगतिवाद के उदय ने ही निराला को व्यंग्य के क्षेत्र मे नहीं उतारा; बल्कि उस समय की देश-व्यापी परिस्थितियाँ भी ऐसी थी जिनसे वे प्रभावित हुए बिना नही रह सकते थे। स्वतंत्रता का संग्राम चल ही रहा था। उसमे कभी आशा की झलक

दिखाई दे जाती थी, कभी घोर निराशा की। इसी बीच द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हो गया जिसके कारण जीवन की बहुत-सी प्राचीन मान्यताओ पर प्रश्न-चिह्न-सा लगने लगा। धार्मिक रूढियों पर 'दान' शीर्षक कविता मे सन् १६३५ मे ही निराला ने व्यंग्य किया था; पर उनकी अधिकाश व्यंग्यपरक रचनाएँ स्वतन्त्रता से पूर्व द्वितीय महायुद्ध-काल की है।

निराला के व्यंग्य का एक आधार सामान्य धरातल है। इसके अंतर्गत 'नये पत्ते' की 'खजोहरा' शीर्षक रचना को ले सकते हैं। इसका आनन्द रवीन्द्रनाथ की 'चित्रा' मे संकलित 'विजयिनी' शीर्षक कविता को तुलनात्मक ढंग से पढ़ने पर उठाया जा सकता है। 'खजोहरा' एक प्रकार से 'विजयिनी' की पैरोडी है। 'विजयिनी' की नायिका की भाँति 'खजोहरा' की बुआ भी एकांत मे तालाव मे स्नान करने जाती है। दोनों ही नग्न होकर स्नान करती हैं; पर एक के निरावरण होने में जहाँ सौंदर्य की सृष्टि होती है, वहाँ दूसरी के नंगे होने मे ग्राम्य-भाव की झलक मिलती है। दोनो के वातावरण मे भी आकाश-पाताल का अंतर है। विजयिनी के चारों ओर वसंत की मादकता है, बुआ वर्षा मे स्नान करने जाती हैं। बुआ का तालाब पुराना और टूटा हुआ है, विजी-यिनी जिस सरोवर मे स्नान करती है, उसके सोपान श्वेत शिलाओ से निर्मित हैं। विजयिनी के चारों ओर कोकिल कूक रही है, सारस क्रीड़ा कर रहे हैं। बुआ जिस मार्ग से गयी हैं, वहाँ मेढ़क टर्रा रहे हैं और लोमड़ी घूम रही है। एक ओर वकुल के पादप हैं, दूसरी ओर काँटों से भरे बबूल के पेड़। विजयिनी का स्वागत कामदेव करता है, बुआ का एक खजोहरा। सौंदर्य-वर्णन के लिए एक ने नागरी को चुना है, दूसरे ने गँवार औरत को।

रचना के प्रारंभ मे काले बादलो से वकीलो की तुलना करते हुए उन पर व्यंग्य किया गया है; पर कवि की मुख्य दृष्टि बुआ पर ही है। बुआ के भतीजा होने वाला है। इस अवसर पर वह नेहर आती है।

संभवतः ससुराल वालों ने उन्हे वहुत वर्षों से उनके मायके नही भेजा है और वे आवश्यकता से अधिक नियन्त्रण मे भी रही हैं, इसीसे गाँव आते ही वे स्वच्छंदता से व्यवहार करने लगती हैं। रूप की चर्चा करते हुए कवि ने उनके खम्भे जैसे पैर और पहलवान जैसे भुजदंडो का वर्णन किया है। मोटाई मे उन्हे हथिनी माना है। गाँव के पुराने तालाब के गँदले जल में नंगी नहाती हुई वुआ बस देखने ही योग्य रही होगी। दुर्भाग्य से ताल के किनारे खड़े आम की डाल से एक खजोहरा वुआ के कंधे पर गिर पड़ता है। वुआ का चाँटा पड़ने से कीड़ा मसल जाता है। शरीर मलने पर उसके रोंए इधर-उधर चिपट जाते है। परिणाम यह होता है कि अंग-प्रत्यंग मे खुजली और भयंकर जलन फैल जाती हैं। दशा ऐसी असहनीय हो उठती है कि वुआ नंगी ही गाँव की ओर भागती हैं। अंधेरे के कारण उन्हे कोई देख नही पाता; पर इस दृश्य की कल्पना करके हँसा तो जा ही सकता है। 'खजोहरा' ग्राम्य मजाक का अच्छा उदाहरण है।

गाँवो मे विकलांगों और विकृतांगों से भी थोड़ा हँसी-मजाक चलता है। वे हास्य-व्यंग्य का आलंवन वनते हैं—विशेष रूप से काने और कुवड़े। ऐसा प्रवाद प्रचलित हैं कि स्वभाव से ये थोड़े दुष्ट होते है। रामचरितमानस मे कैकेयी ने मंथरा से व्यंग्य करते हुए कहा ही है—काने खोरे कूवरे कुटिल कुचाली जानि। लेकिन 'रानी और कानी' मे केवल रूप के वर्णन में ही हास्य का थोड़ा पुट है। लड़की है कानी और नाम है रानी—

मा उसको कहती है रानी
लेकिन उसका उल्टा रूप
चेचक के दाग़, काली, नक चिप्टी
गंजा सर, एक आँख कानी।

उसकी मा से कोई पड़ोसिन पूछ वेठनी है : लड़की सयानी होगई, इसका विवाह कव करोगी ? यह वात कानी को लग जाती है और वह रोने लगती है। कविता को इस दिशा में मोड़ने से हास्य की शक्ति कुछ क्षीण हो गयी है और उसके स्थान पर करुणा उभर आयी है।

जिन लोगों ने इस व्यंग्य को सामाजिक कहा है, वे अपनी कल्पना मे कुछ अधिक वह गए है। कानी के विवाह मे देरी दरिद्रता के कारण नही, अतिशय कुरूपता के कारण है। कुरूपता के कारण किसी का विवाह रुकता नही। और कुछ नही तो काने को काने, कुवड़ों को कुवड़े लूलों को लूले, बहरों को वहरे मिल ही जाते हैं। पुरुप की दूसरी वात है, पर संसार मे शायद ही कोई स्त्री हो, जिसका प्रेमी न हो।

'अनामिका' की 'दान' शीर्षक रचना मे निराला ने धर्म का मर्म न पहचानने वाले उपासको पर व्यंग्य किया है। प्रकृति के अपरिमित सौदर्य को देखकर वे इस निर्णय पर पहुँचे थे कि सृष्टि मे मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नही है; लेकिन जव उनकी आँखो के सामने ही एक रामोपासक अपनी झोली से निकालकर वन्दरों को तो पुए खिलाता है और कंकालशेष भिक्षुको की ओर दृष्टि उठाकर भी नही देखता, तो उस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—

मेरे पड़ोस के वे सज्जन,
करते प्रतिदिन सरिता-मज्जन;
झोली से पुए निकाल लिये,
बढ़ते कपियों के हाथ दिए;
देखा पर नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर;
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला मैं—'धन्य, श्रेष्ठ मानव !'

समाज मे व्यवहार के अपने नियम हैं। सामाजिक व्यक्ति कड़ाई के साथ इनका पालन करता है। ऐसे नियमों की अपनी उपयोगिता है; लेकिन निराला जी का अनुभव है कि जहाँ स्वाद का प्रश्न है, वहाँ मनुष्य खान-पान में जात-कुजात का ध्यान नही रख पाता। उदाहरण के लिए तेल में पकी गर्म पकौड़ी को लीजिए। उसके बनाने वाले की जाति का पता नहीं होता। उसके खाने से जीभ तक जल जाती है; पर उसका स्वाद लेने के लिए लोग ब्राह्मण के हाथ की बनी घी की कचौड़ी को छोड़ बैठते हैं—

गर्म पकौड़ी—
तेल की भुनी
नमक-मिर्च की मिली
ऐ गर्म पकौड़ी !
मेरी जीभ जल गई,
सिसकियां निकल रहीं,
अरी, तेरे लिए छोड़ी
बह्मन की पकाई
मैंने घी की कचौड़ी।

इसी प्रकार प्रेम में भी मनुष्य जात-कुजात का ध्यान नही रखता। गाँव की एक कहावत है—नींद न जाने टूटी खाट, प्यार न जाने जात-कुजात। काम से वशीभूत व्यक्ति को सुन्दर-असुन्दर का ध्यान नहीं रहता। वह केवल नारी को देखता है, उसकी जाति को नहीं। ऐसे ही एक वासना से विह्वल व्यक्ति के मुंह से निराला जी ने 'प्रेम-संगीत' शीर्षक रचना में कहलाया है—

वह्मन का लड़का
मैं उसको प्यार करता हूँ;
जात की कहारिन वह
उसके पीछे मैं मरता हूँ।
कोयल-सी काली, अरे,
चाल नहीं उसकी मतवाली,
ले जाती है मटका बड़का
मैं देख-देख धीरज धरता हूँ।

इस सामाजिक व्यंग्य मे निराला जी यही कहना चाहते हैं कि ऊँची जाति वालों का नीची जाति वालों को अपने से दूर रखना और उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखना एक ढोंग मात्र है। जहाँ जिह्वा के रस अथवा त्वचा के आनन्द का सम्बन्ध है, वहाँ लोग जाति-पाँति का भेद नही रख पाते। इंद्रिय-सुख के लिए मनुष्य बड़े से बड़े आदर्श को तिलांजलि दे सकता है, कड़े से कड़े नियम का उल्लंघन कर सकता है; अतः सामाजिक अनुशासन की बात कहने-सुनने के लिए ही हैं, नही तो मनुष्य को जिस काम में सुविधा दिखाई देती हैं, उसे वह कर बैठता है—कभी छिपकर, कभी खुल्लमखुल्ला।

निराला की कुछ रचनाएँ सामंतवाद पर करारा व्यंग्य करती हैं। धर्म, इतिहास और काव्य मे राजाओं की प्रशस्तियाँ वर्णित हैं; लेकिन कवि का कहना है कि राजाओं और सामंतों ने जो कुछ किया, वह केवल अपनी स्थिति को सुदृढ करने के लिए। शक्ति के संग्रह और अधिकार के प्रसार के लिए उन्होंने कूटनीति से काम लिया। अपनी सुरक्षा के लिए उन्होने दृढ किले बनवाए, विशाल सेनाएँ रखीं। आश्रय और दान देकर उन्होने कवियो और इतिहासकारो को अपने वश में किया। धर्म, इतिहास और काव्य को अपने अनुकूल बना लेने के कारण प्रजा

इन्हे संस्कृति का संरक्षक समझती रही, लेकिन खेद-की बात है कि इनकी चालाकी को कोई समझ नही पाया। सामंतवाद के ह्रास के उपरान्त जब पूँजीवाद का विकास हुआ, तब जमीदार और व्यापारियों ने मिलकर जनता का रक्त चूसा। शासन ने उनका साथ दिया, कानून उनके पक्ष मे रहा, पत्र-पत्रिकाएँ उनके हाथ में रही। कहने का तात्पर्य यह कि सामंतवाद और पूँजीवाद के अंतर्गत जनता कभी सिर नहीं उठा सकी, पनप नही सकी—

(१) राजे ने अपनी रखवाली की—
क़िला बनाकर रहा,
बड़ी-बड़ी फ़ौजें रखीं।
कितने ब्राह्मण आये
पोथियों में जनता को बाँधे हुए।
कवियों ने उसकी बहादुरी के गीत गाए,
ऐतिहासिकों ने इतिहास के पन्ने भरे,
लोक-नारियों के लिए रानियाँ आदर्श हुई।
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर
ख़ून की नदी बही।

(२) जमींदार चाँद जैसे कर के लिए लगे रहे
देश के आकाश पर,
माल के दलाल ये वैश्य हुए देश के।
कितना विहार किया कानूनी पानी पर,
बँधे भी खुले रहे।

गाँव में जन्म लेने के कारण निराला वहाँ के रहने वालों के दुःख-दर्द को समझते थे। उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें छोटी जाति के लोगों के प्रति सहानुभूति प्रकट की गयी हैं। इन रचनाओं के केन्द्र में

किसान है और उसके चारो ओर हैं उस पर अत्याचार करने वाले प्राणी। इन क्रूर शोषको के वास्तविक स्वरूप को कवि ने व्यंग्य के सहारे उभार कर रखा है।

पहला संघर्ष किसान और ज़मीदार के बीच है। ज़मीदार का सिपाही लोहे से मँडा लाठी का गूला कभी किसान के दरवाज़े पर गाड़-कर खड़ा होता है, कभी खेत के पास उगे पेड़ के तने पर रखकर बात करता है। उसके हाथ की यह मज़बूत लाठी ज़मीदार के आतंक का प्रतीक है। आशय यह है कि जो उसके स्वामी के विरुद्ध सिर उठायेगा, उसका सिर इसी लाठी से फोड़ दिया जायगा। इस लाठी को देखकर किसान सहम जाते हैं।

ज़मीदारों का शासन से सीधा सम्बन्ध है; अतः सिपाही कभी-कभी अफ़सरो के आज्ञा-पालन के लिए भी आता है। 'कुत्ता-भौंकने लगा' में निराला जी ने दिखाया है कि पाले से किसानों के खेत नष्ट हो गए हैं; फिर भी उनसे चंदा वसूल किया जा रहा है। एक और रचना 'छलांग मारता चला गया' मे ज़मींदार का सिपाही लाठी लिए किसानों को आतंकित करता फिरता है और किसान हैं कि सिर झुकाये बैठे रहते हैं। इसलिए सिपाही के लौटने पर पहली रचना मे कुत्ता ज़ोर से भूँकने लगता है, दूसरी मे थाले के पानी से उछलकर एक मेंढक दूर तक मूतता चला जाता है। व्यंग्य यह है कि जानवर भी अत्याचारियों को पहचा-नते हैं। कवि की दृष्टि मे ज़मीदार के सिपाही का कर्म ऐसा है जिस पर कुत्ते भूँकें और मेंढक मूत-मूतकर उसका तिरस्कार करें—

(१) ज़मींदार का सिपाही लट्ठ कंधे पर डाले
आया और लोगों की ओर देखकर कहा,
"डेरे पर थानेदार आए हैं;
डिप्टी साहब ने चंदा लगाया है

एक हफ़्ते के अंदर देना है।
चलो बात दे आओ।"
कौड़े से कुछ हटकर
लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठाथा,
चलते सिपाही को देखकर खड़ा हुआ,
और भौंकने लगा···
(२) पास का मेंढक थाले के पानी से उठकर
मूत-मूतकर छलांग मारता चला गया।

कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमे जनता का आक्रोश उभरकर आता है। इस जनता के प्रतिनिधि हैं—झींगुर, वदलू, महगू। 'झींगुर डटकर बोला' में कांग्रेस की कूटनीति का भंडाफोड़ किया गया है। गाँव मे गाँधीवादी प्रचारक आकर साहूकारों को अपना आदमी वतलाते है और जमींदारों से मिलकर किसान-सभा के समर्थकों पर ग़ोली चलवाते हैं। 'डिप्टी साहव आए' में जनता अपने साहस का परिचय देती है। लछिमन के बाग़ का फ़ैसला करने के लिए डिप्टी साहव आते हैं। उनके साथ और लोग भी हैं। ज़मींदार का सिपाही एक अहीर से इन लोगो के लिए बीस सेर दूध का प्रवन्ध करने का आदेश सुनाता है। वाग के संबंध मे वातचीत चलने पर सिपाही तू-तड़ाक कर जाता है। वदलू अहीर क्रोध में भरकर उसकी नाक पर घूंसा जमाता है। इसी वीच उसके अन्य समर्थक आ जाते हैं और ज़मींदार के आदमी की कसकर मरम्मत करते हैं। गाँव में ज़मींदार का आदमी पिट जाय, यह अपने में एक वहुत वड़ी घटना है। इसका शुभ परिणाम यह होता है कि डिप्टी साहव के आदमी दाम देकर गाँव से चीज़ें मोल ले जाते हैं। 'महगू महगा रहा' और भी महत्त्वपूर्ण रचना हैं। इसमे पंडित जी कुइरीपुर गाँव मे व्याख्यान देने आते हैं। परिचय से स्पष्ट है कि आशय पंडित नेहरू से

है। कांग्रेस के चुनाव पर उनका भाषण होता है। सभा के विसर्जित होने पर गाँव के लोग भाषण के संबंध मे बातचीत करने लगते हैं। लकुआ नाम का एक व्यक्ति महगू से उसकी ठीक राय जानना चाहता है। महगू समझाता है कि लोग भीतर-भीतर जमीदारों और मिल-मालिको से गठ-बंधन किए हुए हैं। कारण यह है कि किसी भी बड़ी संस्था के चलाने के लिए रुपये की आवश्यकता पड़ती है और वह रुपया ऐसे ही लोगो से आता है। पत्र-पत्रिकाएँ इन्ही व्यापारियों के हाथ मे हैं; यही कारण है कि मजदूरों और किसानों पर रात-दिन होने वाले अत्याचारों की खबरें उनमें नहीं छपती। लेकिन देश मे ऐसी शक्तियाँ भी काम कर रही है जो वास्तव में जनता का हित चाहती हैं। उनके ऊपर शासन का अभी नियंत्रण है। फिर भी इतना निश्चित है कि किसी दिन वे अधिकार प्राप्त करेंगे और उस दशा मे देश का सामान्य व्यक्ति सुख की साँस ले सकेगा। इस कविता मे 'छिपे हुए लोग' से कवि का तात्पर्य किन व्यक्तियों से है, कहा नहीं जा सकता। तीनों रचनाओं के व्यंग्यात्मक अंशों को देखिए—

(१) गांधीवादी आए
देर तक गांधीवाद क्या है, समझाते रहे।
एक खेत के फ़ासले से
गोली चलने लगी।
भीड़ भगने लगी।
झींगुर ने कहा,
"चूंकि हम किसान-सभा के,
भाई जी के मददगार
जमींदार ने गोली चलवाई
पुलिस के हुक्म की तामीली की
ऐसा यह पेच है।"

(२) जमकर बबलू ने बदमाश को देखा, फिर
उठा-क्रोध से भरकर
और एक घूंसा तानकर नाक पर दिया।
गोड़इत प्रेमी-जन था
जमीं चूमने लगा।

(३) आजकल पंडित जी देश में विराजते हैं।
माता जी को स्वीजरलैंड के अस्पताल,
तपेदिक के इलाज के लिए छोड़ा है।
बड़े भारी नेता हैं।
कुइरीपुर गाँव में व्याख्यान देने को
आये हैं मोटर पर
लंडन के ग्रैज्युएट,
एम० ए० और बैरिस्टर
बड़े बाप के बेटे,
बीसियों भी पर्तों के अन्दर, खुले हुए।
गले का चढ़ाव बोझुआजी का नहीं गया।

'मास्को डायेलाग्स' गिडवानी नाम के एक ऐसे सोशलिस्ट नेता की कहानी है जिसकी महत्वाकांक्षा साहित्यिक के रूप मे प्रसिद्ध होने की भी है। गिडवानी जी 'मास्को डायेलाग्स' नाम का एक ग्रंथ लेकर कवि से मिलने आते हैं। शेखी बघारते हुए वे कहते हैं कि इसकी बहुत कम प्रतियाँ इस देश मे मिलती हैं। जो प्रति उनके पास है, वह तो सुभाष बाबू ने उन्हें भेंट की थी। इसके उपरांत वे अपना उपन्यास कवि को दिखाते हैं। उसकी प्रथम पंक्ति ही अशुद्ध है। नेता जी हैं सिंधी, लिखते हैं हिंदी; अतः वैसा लिखा हो तो कोई आश्चर्य की बात नही—

देखा उपन्यास मैंने,
श्रीगरोश में मिला—
"पृय असनेहमयी स्यामा मुझे प्रेम है।"
इसको फिर रख दिया, देखा "मास्को डायेलाग्स",
देखा गिडवानी को।

इसी प्रकार कवि कही पूंजीवाद पर व्यंग्य करते पाया जाता है, कही विदेश-प्रेम पर छीटे मारते—

(१) जाल भी ऐसा चला
कि थोड़े के पेटे मे वहुतों को आना पड़ा।

(२) क़ैद पासपोर्ट की नहीं तो कभी
देश आधा खाली हो गया होता;
देविकारानी और उदयशंकर के
पीछे लगे लोग चले गये होते।

निराला ने व्यक्ति, समाज, साहित्य, कला, धर्म, राजनीति सभी पर व्यंग्य किया है। यही तक नही, वे सभ्यता के विकास से भी संतुष्ट नही प्रतीत होते। समाज मे क्रियाशील सभी शक्तियों को वे लोक-मंगल की दृष्टि से देखते हैं: अतः जहाँ राजनीति, धर्म, दर्शन और कला इस उद्देश्य की सिद्धि नही कर पाते, वहाँ वे उनके व्यंग्य का विषय वन जाते हैं। दर्शन के क्षेत्र मे भारत अपरिमित ज्ञान का भांडार है; पर जनता को इससे कोई विशेष लाभ हुआ हो, ऐसा नही लगता। वहुत ऊँची वातें, रहस्यमयी वातें, अटपटी वातें, जनसाधारण की वुद्धि की पहुँच से वाहर हो जाती हैं। जीवन के गंभीर दार्शनिक विवेचन को वह केवल आश्चर्यचकित होकर सुनती है—

किसी ने कहा कि एक तीन हैं,
किसी ने कहा कि तीन तीन हैं।
किसी ने नसें टोईं, किसी ने कमल देखे।
किसी ने विहार किया, किसी ने अँगूठे चूमे।
लोगों ने कहा कि धन्य होगए !

'चर्खा चला' रचना मे निराला ने आदि काल से लेकर सभ्यता के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण किया है। इसमे उन्होंने पूर्व और पश्चिम की तुलना करते हुए इस वात पर ज़ोर दिया है कि जो बात विदेशो मे अब प्रचारित हो रही है—जैसे धरती के प्रति प्रेम—उसकी उपलब्धि हमे शताब्दियों पूर्व हो गयी थी—

वाल्मीकि ने पहले वेदों की लीक छोड़ी,
छंदों में गीत रचे, मंत्रों को छोड़कर,
मानव को मान दिया,
धरती की प्यारी लड़की सीता के गाने गाये।
'वर्जिन स्वैल', 'गुड अर्थ' अबके परिणाम हैं।

अंतिम पंक्ति मे रूसी उपन्यासकार शेलोखोव की रचना 'वर्जिन साइल अपटर्नड्' तथा अमरीकी लेखिका पर्ल वक के प्रसिद्ध उपन्यास 'गुड अर्थ' की ओर संकेत है।

निराला के व्यंग्य-काव्य मे 'कुकुरमुत्ता' सबसे सशक्त रचना है। इसमे नवाव के वाग मे उगा कुकुरमुत्ता पास मे खिले गुलाव को बुरी तरह फटकारता है। गुलाव मे कई दोष वताए गए हैं। पहली वात यह कि वह विदेशी है। दूसरे, वह केवल सम्पन्न व्यक्तियो को प्रिय है और जनसाधारण से दूर रहता है। तीसरे, वह स्वयं नही उग सकता, उसके लिए बहुत देखभाल करनी पड़ती है—माली रखना पड़ता है, पानी देना

पड़ता है। खाद का रक्त चूँसकर वह विकसित होता है; अतः शोषको की श्रेणी मे आता है। वह काँटों से भरा हुआ है। और सबसे बुरी बात यह है कि वह जिसके निकट रहता है, उसमे रोमांस की भावना जगाता है, उसे स्त्री-प्रेमी बनाता है। उसे अधिक प्रेम करने वाले अंत में स्त्रैण हो जाते हैं।

स्पष्ट है कि यहाँ कुकुरमुत्ता सर्वहारा का प्रतीक है, गुलाब पूँजी-पति का। इस दृष्टि से इसे प्रगतिशील रचना कह सकते हैं। रचना का व्यंग्य सबसे अधिक उसके अंत मे उभरता है। नवाब साहब गुलाब के प्रेमी है। संयोग की बात है कि उनकी लड़की बहार माली की लड़की गोली के प्रभाव मे आकर कुकुरमुत्ता को पसंद करने लगती है और जब वह उसकी प्रशंसा अपने पिता से करती है तो वे भी उसके पक्ष में हो जाते हैं। माली को बुलाकर वे आज्ञा देते है कि बाग में कुकुरमुत्ता उगाओ। माली उन्हे समझाता है, "हुजूर, खता मुआफ हो, कुकुरमुत्ता उगाने से नही उगता, वह जब उगता है, जहाँ उगता है, अपने आप उगता है।"

इस रचना मे कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। निराला का दृष्टि-कोण प्रगतिशील अवश्य है, पर वे मार्क्सवादी नही है। जनसाधारण का पक्ष उन्होने सभी कही मानवतावाद के आधार पर लिया है। कुकुरमुत्ता गंदगी मे उगता है। इस शब्द का अर्थ ही है—ऐसे स्थान पर उगना जहाँ कुत्ते मूतें। कुकुरमुत्ता बिना कुछ कहे खरी-खोटी सुनाता है और गुलाब ने यहाँ से वहाँ तक एक भी व्यंग्य का उत्तर नहीं दिया है। वह उसे 'जनखा' और 'हरामी' तक कहता है; पर गुलाब उत्तेजित न होकर शांत है। इससे इतनी ध्वनि तो निकलती ही है कि जहाँ गुलाब संस्कृत स्वभाव का है, वहाँ कुकुरमुत्ता अशिष्ट और असभ्य। कम्यूनिस्ट विचारधारा का समर्थक सर्वहारा के स्वभाव के इस पक्ष को संभवतः न उभारता। नवाब की लडकी कुकुरमुत्तो का कलिया बनवाकर खा

जाती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि निराला ने कुकुरमुत्ते को उपयोगिता की दृष्टि से देखा है, सौंदर्य की दृष्टि से नही। पंत जी की 'ताज' शीर्षक रचना मे भी इसी प्रकार सौंदर्य के स्थान पर उपयोगिता का दृष्टिकोण प्रमुख हो उठा है। गुलाव चाहता तो कुकुरमुत्ता मे एक के स्थान पर पचास दोष गिना सकता था, पर कवि ने उसे वोलने का अवसर ही नही दिया।

इस कृति मे निराला की सूक्ष्म सौंदर्य-चेतना दवी रह गयी है, इसी से इसका अभिव्यक्ति-पक्ष 'क्रूड' क़िस्म का है। कुकुरमुत्ते की वातचीत मे एक प्रकार का उजड्डपन पाया जाता है। यो इस लट्ठपन का भी एक रस है और वह हमे आनंद भी देता है। कारण यह है कि हिंदी के पाठक अभी तक मध्य वर्ग के हैं और मध्यवर्ग भी निम्न वर्ग के समान पूंजीपतियों के शोषण का शिकार रहा है। उनसे असंतुष्ट रहने के कारण मध्यवर्ग की भी प्रच्छन्न इच्छा रहती है कि इन्हे कोई कसकर डाटे, इनके गाल पर तमाचे लगाए; अतः कुकुरमुत्ता के स्वर की परुषता मे ध्वनित गँवारपन भी उन्हे अच्छा लगता है। इस रचना का कला-पक्ष असंस्कृत ढंग का है। कुकुरमुत्ता की तुलना छाते, पैराशूट. मथानी, हल, तराजू के पल्ले तथा नाव के तल्ले से की गयी है। ये उपमान अनगढ़ और अपरिष्कृत ढंग के हैं। वस्तु-परिगणन मे कवि ताँता-सा वाँध देता है। लेखको का ध्यान आया तो व्यास, कालिदास, हाफिज, टैगोर से लेकर टी० एस० इलियट तक दौड़ लगा दी। इसी प्रकार देशो, किलों, वाद्ययंत्रो, वृक्षो और फूलो की चर्चा उवा देने वाली हो गयी है। भाषा एकदम खिचड़ी है। एक ओर संस्कृत के रस, कुंज, शतदल का प्रयोग है, दूसरी ओर फ़ारसी के आरामगाह, फ़र्मावरदार और तहज़ीव आदि वहार दिखा रहे हैं, तीसरी दिशा मे कोस्मोपोलिटन, प्रोग्रेसिव और वालडांस सिर उठाए खड़े हैं। इन सवको देखकर ऐसा संदेह होता है कि प्रगतिवादी-साहित्य मे सन् १९३५ और ४२ के वीच,

कथ्य और कला मे जो उतार आगया था, उस पर भी निराला व्यंग्य करना चाहते है।

कुकुरमुत्ता के कुछ विशिष्ट अंशो को देखिए—

(१) अबे, सुन बे, गुलाब,
भूल मत जो पाई ख़ुशबू, रंगोंआब,
ख़ून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतराता है कैपिटलिस्ट।

(२) कहीं का रोड़ा, कहीं का लिया पत्थर,
टी० एस० एलीयट ने जैसे दे मारा,
पढ़नेवालों ने जिगर पर हाथ रखकर
कहा, "कैसा लिख दिया संसार सारा।"

(३) आगे चली गोली जैसे डि्क्टेटर,
उसके पीछे बहार, जैसे भुक्खड़ फ़ालोअर,
उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर—
आधुनिक पोइट !

(४) ग़ुस्से के मारे काँपने लगे नव्वाब।
कहा, "चल, गुलाब जहाँ थे, उगा,
सबके साथ हम भी चाहते हैं अब कुकुरमुत्ता।"
माली ने कहा, "मआफ़ करें ख़ता,
कुकुरमुत्ता उगाया नहीं उगता।"

स्वतंत्र विषय

आधुनिक युग एक ऐसा युग रहा है जहाँ कवि की अपनी अनुभूतियाँ उसके लिये बहुत महत्त्वपूर्ण रही हैं। इसके लिये केवल छायावादी कवियों को दोषी ठहराना ठीक नहीं होगा। व्यक्तिवाद का आरोप यदि छायावाद-युग की महादेवी पर लगाया जा सकता है, तो उत्तरछायावाद-काल के 'बच्चन' जी और प्रयोगवाद-युग के अज्ञेय जी पर भी। आज का प्रयोगवादी तो छायावाद-युग के पंत, प्रसाद आदि से भी अधिक अंतर्मुखी प्रवृत्ति का कवि है। काव्य मे प्रश्न अंतर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्ति का अथवा छोटी और बड़ी प्रेरणा का उतना नही है, जितना भावना के विस्तार का। अंतर्मुखी प्रवृत्ति की महादेवी और बहिर्मुखी प्रवृत्ति के मैथिलीशरण दोनो की प्रेरणाएं बहुत बड़ी हैं; लेकिन जहाँ गुप्त जी मे उस प्रेरणा का विस्तार अखंड रूप में पाया जाता है, वहाँ महादेवी जी मे खंडित रूप मे। महादेवी खंड-खड होकर अखंड हैं। यदि पत, महादेवी और बच्चन बूंद-बूंद से निर्मित जलधारा के समान है तो तुलसी, जायसी और मैथिलीशरण आकाश, समुद्र और धरती के समान। यह गीतकार और महाकाव्यकार के बीच सामान्य भेद की बात हुई। रचना-विधान की दृष्टि से देखें तो दोनो मे कोई विशेष अंतर नही है। महादेवी का प्रत्येक गीत उतना ही व्यवस्थित है जितना मैथिलीशरण का कोई खंड-काव्य अथवा महाकाव्य।

निराला की अधिकांश रचनाएं व्यापक वृत्तियों—ओज, करुण, प्रेम—के अंतर्गत आती हैं; पर कभी-कभी वे स्वतंत्र विपय भी उठाते थे। ऐसी रचनाएँ अनामिका, परिमल, आराधना और वेला मे विखरी पड़ी है। उनमे से कुछ का उल्लेख हम यहाँ करेगे।

'अनामिका' मे एक रचना है—मित्र के प्रति। इसमे उन्होने काव्य-साधना के उन दिनो का वर्णन किया है जब उन पर आक्षेप हुए—मुक्त छंद को लेकर, भावो की अस्पष्टता को लेकर। इन आक्रमणो के बीच वे अविचिलित रहे। उस आग और धूलि के पथ को पारकर उन्हे यश मिला और फिर वह दिन भी आया जब लोग उनकी देन से संतुष्ट और प्रसन्न हुए। यह स्थिति उनके लिए भी आत्म-सुख का कारण बनी। दूसरी रचना है—खंडहर के प्रति। इसमे वे खँडहर को प्रणाम निवेदित करते है, क्योकि वह हमे अतीत का स्मरण दिलाकर प्रेरणा प्रदान करता है। ऐसी ही एक रचना है—वे किसान की नयी वहू की आँखें—जिसमे एक ग्राम-वधूटी की प्रसन्न, लजीली, सरल चितवन का हृदयग्राही वर्णन किया गया है। इस संग्रह की एक विशिष्ट रचना 'सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति' है। एडवर्ड निराला जी की प्रशंसा के पात्र इसलिए वने कि उन्होने हृदय की पुकार के सामने साम्राज्य को ठुकरा दिया और इस प्रकार अपने अंतर मे निहित सच्ची मानवता का परिचय दिया।

'परिमल' की 'यमुना के प्रति', 'तरंगों के प्रति', 'जलद के प्रति', 'प्रपात के प्रति' और 'स्मृति' आदि भी स्वतंत्र विषयों पर लिखी गयी कविताएँ है। इनमे से कुछ के सौदर्य की चर्चा हम प्रकृति-वर्णन के अंतर्गत कर चुके हैं। इनमे किसी विषय को लेकर निराला ने वैसे ही अनेक प्रकार की रम्य कल्पनाएँ की हैं, जैसे पंत जी ने अपनी 'नौका-विहार', 'वीचि विलास', 'वादल,' 'छाया', 'एक तारा', 'चाँदनी', 'अप्सरा' आदि में। निराला जी की रचनाएँ पंत जी से कम प्रभाव-

शाली नहीं है ; पर जहाँ तक कल्पना की शुद्ध उड़ान का संबंध है, पंत जी की शक्ति का ओर छोर नहीं है—वे निराला को बहुत पीछे छोड़ जाते है।

'आराधना' मे किसान और मजदूर के चित्र बहुत स्पष्ट उतरे हैं। ऐसा लगता है जैसे कवि ने इन्हे बहुत निकट से देखा हो—

(१) खेत जोत कर घर आए हैं;
बैलों के कंधे पर माची,
माची पर उल्टा हल रक्खा,
बढ़ी हाथ ......

(२) बान कूटता है—
मुगरी लेकर सुख का
राज लूटता है।

'अणिमा' के अध्ययन से ऐसा विश्वास जगता है कि इन लोगो के मनोविज्ञान को निराला ठीक से समझते थे। एक काव्य-कथा मे दुखिया अपनी बिठायी हुई पत्नी सुखिया के व्यंग्य का उत्तर देना चाहता है; पर दे नहीं पाता, क्योंकि वह जानता है कि उसे अप्रसन्न करके उसकी स्थिति और भी दयनीय हो जायगी—

दुखिया ने सोचा, "इसके पीछे बिना पड़े भला,
बैठा ले दूसरा, तो सिंह से हूँ स्यार।"

ऐसे ही पनवाड़ी और इक्केवाले भी इनके काव्य के विषय बने हैं।

इस प्रसंग को और बढ़ाना चाहे तो कह सकते है कि शोषित व्यक्तियों के दुःख को निराला ने गहराई मे जाकर पहचाना था। एक रात वे स्वप्न में दो छलछलाए नेत्र देखते हैं। ये नेत्र अत्याचार से पीड़ित किसी ऐसे व्यक्ति के है जिसके लिए जीवन भार हो उठा है,

जो मृत्यु को जीवन से सुखदायी समझने लगा है, जो दुःख से आहत और जर्जर होकर जीवन के प्रति सारी आस्था खो बैठा है। इस रचना को पढ़ कर हृदय पर एक-आघात-सा लगता है—

आँख लगी थी पल भर
देखा, नेत्र छलछलाए दो
आगे आए किसी अजाने दूर देश से चलकर।
भीतर नग्न रूप था घोर दमन का,
बाहर अचल धैर्य था उनके उस दुखमय जीवन का;
भाव में कहते थे वे नेत्र निमेष-विहीन—
अन्तिम श्वास छोड़ते जैसे थोड़े जल में मीन,—
"हम अब न रहेंगे यहाँ, आह सम्भार!
मृगतृष्णा से व्यर्थ भटकना, केवल हाहाकार
हमें दुःख से मुक्ति मिलेगी,—हाँ, इतने दुर्बल हैं—
कर दो एक प्रहार!"

निराला ने मानव के दुःख को मानव-धर्म के रूप मे प्रायः पहचाना है। यह वृत्ति उनके निर्मल हृदय की मानवता एवं संवेदनशीलता की परिचायक रहेगी। प्रगतिवादी-आंदोलन के स्वर को भी निराला ने अपने ढंग से ग्रहण किया। 'वेला' की कई रचनाओं में उन्होने पूंजीपति और मजदूर के प्रश्न को उठाया है। पूंजीपतियों के अत्याचार से वे पूर्णतया परिचित थे और देश मे जो परिवर्तन धीरे-धीरे आ रहा था, वह भी उनकी आँखो से छिपा न था। प्रगतिवाद की हवा के बहने से पहले ही वे प्रगतिशील थे, बिल्कुल वैसे ही जैसे महात्मा गाँधी के राष्ट्रीय आंदोलन प्रारंभ करने से पूर्व ही प्रेमचंद जी राष्ट्रीय भावना से सम्पन्न थे। एक ने 'बादल-राग' का प्रणयन कर और

दूसरे ने 'सोज़े वतन' लिखकर इस वात का प्रमाण दिया। राष्ट्रीय आंदोलन और प्रगतिवादी आदोलन के साथ किसानों और मज़दूरों में जो नयी चेतना जाग्रत हुई, उसकी अभिव्यक्ति निराला के काव्य में सहज भाव से हुई है। इससे पता चलता है कि निराला चित्र के सभी पहलुओ को देखने वाले कवि थे। जहाँ तक किसानों का संवंध है, निराला कांग्रेस से संतुष्ट नही प्रतीत होते। 'नये पत्ते', में अनेक स्थानों पर उन्होने ज़मींदारों, मिल-मालिकों और पुलिस के साथ कांग्रेस के गठवंधन का उल्लेख किया है। उन्होने किसानो के मन मे उठी उस विद्रोह-भावना का अंकन भी किया है जो धीरे-धीरे सिर उठा रही थी। शोषक और शोषित के संघर्ष से तो निराला पूर्णतया परिचित थे; पर प्रगतिवादियो के समान वे मजदूरो को ही क्रांति का एकमात्र अग्रदूत नही समझते थे। उनको दृष्टि मे शोषित शोषित ही था, वह चाहे मज़दूर हो, किसान हो या निम्न वर्ग का और कोई संकटग्रस्त व्यक्ति। पूंजीपतियो के प्रति दृष्टिकोण और विद्रोहजनित परिवर्तन के लक्षण 'वेला' की निम्नलिखित पंक्तियो मे स्पष्टता से उभर कर आये हैं—

(१) भेद कुल खुल जाय वह
सूरत हमारे दिल में है;
देश को मिल जाय जो
पूंजी तुम्हारे मिल में है।
पेड़ टूटेंगे, हिलेंगे,
जोर की आंधी चली;
हाथ मत डालो, हटाओ
पैर, बिच्छू बिल में है।

(२) कैसी यह हवा चली,

तरु-तरुकी खिली कली ।
उठे मसुरिया, बलई,
भगे बड़े - बड़े बली ।
(३) जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ आओ ।
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली,
खोलेंगे अँधेरे का ताला;
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ ।

प्रशस्तियाँ

भक्ति-काल को छोड़कर सभी कालों में प्रसिद्ध व्यक्तियो पर कविताएँ लिखने का चलन-सा रहा है। केवल तुलसीदास ही, जिन्हे संसार से कुछ लेना-देना नही था, ऐसी घोषणा कर सकते थे—कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना—अथवा कुंभनदास पूछ सकते थे—संतन को कहा सीकरी सो काम ? नही तो हिंदी मे अपने आश्रयदाता राजाओं का विरुदगान करने वाले चारणों और दरबारी-वृत्ति के लोगों की न तो कमी रही और न साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, राजनीति मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की प्रशंसा करने वाले कवियों की।

पंत जी के समान निराला जी ने भी कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों पर कविताएँ लिखी हैं। समकालीन साहित्यकारो मे से इन्होने श्री जयशंकर प्रसाद, श्रीमती महादेवी वर्मा तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रति अपनी भावना व्यक्त की है। शुक्ल जी की कल्पना उन्होंने शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के रूप मे की है और द्वितीया से लेकर चतुर्दशी तक सभी कलाओं को उनके किसी न किसी गुण से सम्बद्ध किया है। आलोचना के क्षेत्र मे शुक्ल जी का महत्त्व घोषित करने के लिए रचना का प्रारंभ ही इस प्रकार होता है—अमा निशा थी समालोचना के अंबर पर, उदित हुए जब तुम हिंदी के दिव्य कलाधर। जैसी प्रशंसा निराला ने शुक्ल जी की की, कुछ-कुछ वैसी ही प्रशंसा पंत जी ने आचार्य महावीर-

प्रसाद द्विवेदी की की है । 'प्रसाद' जी वाली रचना में उनके व्यक्तित्व और साहित्य के महत्त्व का अपने ढंग से प्रतिपादन है । 'प्रसाद' जी के बहाने निराला ने बहुत से समकालीन लेखक-लेखिकाओं का उल्लेख किया है । प्रसाद जी के संबंध मे निराला जी की धारणा है—किया मूक को मुखर, लिया कुछ, दिया अधिकतर; पिया गरल, पर किया जाति-साहित्य को अमर । महादेवी जी की प्रशंसा उनकी कृतियों के उल्लेख के आधार पर हुई है । इस दृष्टि से शुक्ल जी और महादेवी जी वाली रचनाएँ चमत्कारपूर्ण अधिक है । फिर भी श्रीमती वर्मा के साहित्यिक व्यक्तित्व का अंकन इन शब्दों मे ठीक ही हुआ है—

हिन्दी के विशाल मंदिर की वीणा-वाणी,
स्फूर्ति-चेतना-रचना की प्रतिमा कल्याणी ।

संतो के संबंध मे दो रचनाएँ पायी जाती है । इनमे से एक पद है 'संत रविदास के प्रति' । रैदास स्वामी रामानन्द के शिष्यो मे एक प्रसिद्ध भक्त हो गए है । जाति के ये चमार थे; पर अपने समय में कबीर के समान ही जनता ने इन्हें सम्मान दिया । इनकी वाणी कबीर से मिलती-जुलती है । निराला ने कवि और भक्त होने के कारण इनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है । गोस्वामी तुलसीदास ने एक स्थान पर कहा है—पूजिए विप्र शील-गुण-हीना, सूद्र न गुणगण-ज्ञान-प्रवीणा । निराला ने जैसे इस मंतव्य के प्रति अपना विद्रोह व्यक्त किया है । वे ब्राह्मण होकर चमार के चरणों मे झुके हैं । इन पंक्तियों को देखिए—

छुआ पारस भी नहीं, तुमने रहे
कर्म के अभ्यास में, अविरत बहे
ज्ञान-गंगा में, समुज्ज्वल चर्मकार,
चरण छूकर कर रहा मैं नमस्कार ।

दूसरी रचना स्वामी प्रेमानन्द के प्रति है। 'समन्वय' के संपादन-काल मे निराला जी कई संन्यासियो के सम्पर्क मे आए। इनमे एक थे स्वामी शारदानन्द जिन्हे निराला ने अपना 'प्रबंध पद्म' समर्पित किया है, दूसरे थे स्वामी प्रेमानन्द जिन्हे लेकर उन्होंने 'भक्त और भगवान' नाम से एक कहानी लिखी। कहानी मे भक्त का नाम निरंजन दिया है, उसकी पत्नी का सरस्वती। इन्हें निराला और मनोहरादेवी समझना चाहिए। स्वामी प्रेमानंद के स्वागत की चर्चा इस कहानी में हुई है। 'अणिमा' मे तो वे एक लंबी रचना का विषय हैं।

किसी राज्य मे एक खुले स्थान पर लोग स्वामी प्रेमानन्द का स्वागत करते हैं। उसमे गाँव के असंख्य लोगों के साथ राज्य के कर्मचारी भी सम्मिलित हैं। राजा के लोग उन्हें एक उपवन मे ले आते हैं जहाँ उत्तर प्रदेश का एक युवक भक्त उन्हे रामचरितमानस से सुतीक्ष्ण का प्रसंग सुनाता है। भोज के समय ब्राह्मण, कायस्थ सब एक साथ बैठते हैं। राजकर्मचारियों में अधिकतर लोग कायस्थ हैं। उन्हें पता है स्वामी जी पहले कायस्थ थे। इस पर वे गर्व का अनुभव करते है। स्वामी जी को यह दृष्टिकोण अच्छा नही लगता। उसी समय एक ब्राह्मण क्रुद्ध होकर कहता है : इस राज्य का राजा ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण-विद्वेष की बात मैं राजा तक पहुँचाऊँगा। स्वामी जी खिन्न होकर भोजन से उठ बैठते हैं। इस पर कायस्थ लोग युवक भक्त पर कुछ व्यंग्य कसते हैं। संभवतः वे उससे पहले से अप्रसन्न हैं। स्वामी जी से जब भोजन के लिए लोग अनुनय-विनय करते हैं, तो वे यह शर्त रखते हैं कि भोजन वे उसी समय करेंगे जब पहले ब्राह्मण युवक को खिला-पिला दिया जाय। लोग इस बात को मान लेते हैं।

सभा होती है। सभापति बनते हैं राज के चीफ़ मैनेजर। स्वामी जी नारद और किसान वाला प्रसिद्ध आख्यान सुनाकर यह संकेत करते हैं कि केवल बड़ा होने से ही कोई महत्त्वपूर्ण नही हो जाता। भगवान

की दृष्टि में एक साधारण व्यक्ति भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इसके उपरात वे चीफ़ मैनेजर से किसी दर्शनीय स्थान को दिखाने की बात उठाते है। मैनेजर गढ़ के मध्य बने भव्य मंदिर मे कृष्ण की मूर्ति के दर्शन के लिए उन्हें ले जाता है। मैनेजर हैं, स्वामी जी हैं, तीन ब्रह्मचारी हैं और साथ मे ब्राह्मण युवक। सिंहद्वार को पार करके एक संतरी मिलता है जो दर्शकों के इस दल को रोक देता है। वह कहता है: मैनेजर तो इधर से जा सकते है; पर अन्य लोगो के लिए राजाज्ञा चाहिए। इस बीच राजा का मुंहलगा ब्राह्मण भी आकर सूचना देता है: महाराज स्वयं वहाँ उपस्थित हैं और इस मार्ग से किसी अजनबी के जाने का विधान नही हैं। इस पर स्वामी जी अपमानित अनुभव करते है और पूछते है, "क्या देव-दर्शन के लिए भी राजा की आज्ञा लेना आवश्यक है?" ब्राह्मण उत्तर देता है, "हाँ; और वह इसलिए कि मंदिर राजा का है। उसमें प्रतिष्ठित देवता राजा के हैं—प्रजा के नही।" स्वामी जी को क्रोध आ जाता है। उनके शरीर से एक ज्योति-सी निकलती है। इसके उपरात सभी को उनके शरीर मे कृष्ण के दर्शन होते हैं। इसके साथ ही वह युवकभक्त ज्योति की रेखा से स्वामी जी से बँधा हुआ दिखाई देता है। ब्राह्मण देव चकित होकर राजा के पास दौड़े हुए जाते है। राजा इस अलौकिक घटना के वर्णन से अभिभूत होकर आज्ञा देता है कि स्वामी जी को इधर से ही ले आओ; पर अब स्वामी जी अपनी इच्छा से घूमकर जाते है। युवक को फिर भी मंदिर मे प्रवेश करने की आज्ञा नही मिलती। स्वामी जी राजा से विदा लेते हुए कहते है कि मैं वही हूँ जो बाहर खड़ा है और अंत मे युवक को साथ लेकर लौट जाते है। युवक पर इस घटना का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह सदैव के लिए उस राज्य से दूर चला जाता है।

वर्णन से ही स्पष्ट है कि यह राज्य महिषादल का है। चीफ मैनेजर वहाँ के दीवान हैं। इनकी चर्चा निराला की कहानी 'भक्त और

भगवान' मे भी आयी है। राजा से तात्पर्य वहाँ के राजा से है। जिस पश्चिमीय युवक का उल्लेख इसमे बार-बार हुआ है, वे स्वयं निराला हैं। अपने पिता की मृत्यु के उपरांत वे महिषादल मे नौकर हो गए थे और अपने प्रगतिशील विचारो के कारण उन्होने वहाँ के कर्मचारियो और राजा को असंतुष्ट कर दिया था।

इस रचना मे बंगाल की प्रकृति, संन्यासियों के स्वागत, भोज तथा राज्य के आतंक का प्रभावशाली वर्णन हुआ है। राजकीय कर्मचारियो के विचारो की संकीर्णता पर इसके अच्छा प्रकाश पड़ता है। विशेष रूप से इसमे जातिवाद का प्रश्न उठाया गया है। स्पष्ट है कि राज्य मे कायस्थ-ब्राह्मण का प्रश्न जोरों से चल रहा था। इसमें वे लोग संन्यासियो को भी घसीटने से नहीं चूकते थे। जहाँ तक स्वामी प्रेमानन्द का सम्बन्ध है, उन्होने सभी स्थानों पर अपने को इस संकीर्णता से ऊपर सिद्ध किया है।

ऐसा लगता है कि निराला जी का विश्वास साधु-संतों द्वारा प्रदर्शित चमत्कारों में कुछ न कुछ था। उनकी कहानियो मे भी ऐसे प्रसंगो की कमी नही है। कविता से सिद्ध होता है कि स्वामी प्रेमानंद का कृष्ण के रूप मे परिवर्तित होना निराला और राज्य के कर्मचारियो ने अपनी आँखो से देखा था। बीसवी शताब्दी मे अलौकिक तत्त्व का ऐसा उल्लेख बुद्धिजीवियो को विस्मयकर लग सकता है; पर भारत मे ऐसी घटनाएँ न जाने कितनी बार घटित हुई हैं।

जहाँ तक निराला के जीवन का संबंध है, यह कविता महिषादल राज्य से उनके त्यागपत्र देने के कारणों पर प्रकाश डालती है।

'अणिमा' मे दो रचनाएँ श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित पर हैं। पहली रचना मे उनकी सुन्दरता, मार्जित रुचि, जीवन के प्रति आसक्ति, वैभव-प्रेम और सुखद वैवाहिक-बंधन का उल्लेख है। निराला जी श्रीमती पंडित के व्यक्तित्व से प्रभावित रहे होंगे, ऐसा अनुमान लगाया

जा सकता है। उस प्रभाव की यह सामान्य सी स्वीकृति है। लेकिन दूसरी रचना तो एकदम आश्चर्य में डाल देती है। पहली बात तो यह कि वह हिंदी में न होकर बंगाली मे है। उसके साथ गद्य में निराला का किया हुआ अनुवाद है। जो प्रसंग उठाया गया है वह ऐसा है कि उस पर कुछ कहने में संकोच लगता है; अतः निराला के ही शब्दों में सुनिए—

मेरे एक उपन्यास का चरित बुनकर तुमने पूछा, "जूतासाज़, पालिश कर सकते हो?"—एक पैर उठाकर जूता दिखाया।

"कर सकता हूँ।"

ज्यो ही मैंने कहा कि तुमने जवाब दिया, "तब मैं तुम्हारी क़लम-साज़ी करूंगी।"

—निराला

व्यक्तिपरक रचनाएँ

जो लेखक जीवन और जगत की समस्याओं को जितनी गंभीरता और व्यापकता से देख पाता है, वह उतना ही बड़ा लेखक कहलाता है। यह काम महाकाव्य, उपन्यास और नाटक के द्वारा जैसा सम्पन्न हो सकता है, वैसा गीत, कहानी और एकांकी द्वारा नही। यही कारण है कि हम गोस्वामी तुलसीदास और प्रेमचंद को जैसा सम्मान देते हैं, वैसा अन्य रचनाकारों को नही। इन दोनो ही साहित्यकारो ने सम्पूर्ण राष्ट्र की चेतना को आत्मसात करके भारतीय संस्कृति के उज्ज्वलतम रूप को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है। लोक-कल्याण के साथ ही कवि व्यक्ति-कल्याण की ओर भी कभी-कभी मुड़ जाता है। तुलसी की 'विनय-पत्रिका' एक ऐसी ही रचना है। लेकिन तुलसीदास वहाँ माध्यम मात्र हैं। वे अपने वहाने प्रत्येक प्राणी की कथा दुहराना चाहते हैं। विनय-पत्रिका मे व्यक्तिगत अनुभूति की तो कमी नहीं है; लेकिन वहाँ व्यक्ति के साथ विश्व का भी ध्यान है; अतः विषय की दृष्टि से यह कृति इतनी व्यक्तिपरक नही है, जितनी शैली की दृष्टि से। अकेला व्यक्ति वहाँ कुछ नही है, वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ रहकर ही अपनी सार्थकता पाता है। यही बात महादेवी जी के आत्म-निवेदन के लिए भी कही जा सकती है। लेकिन व्यक्तिगत जीवन का एक ऐसा स्वर भी होता है जिसे निजी घोषित किया जा सके। उसे सुनकर ऐसा लगता है कि

कवि का अपना सुख-दुःख पहले है, औरों का वाद मे । अपनी रचनाओं के द्वारा वह यह कहता प्रतीत होता है कि यह बात पहले मेरी है, वाद मे आपकी । 'वच्चन' जी के कई ग्रंथ ऐसे ही है । इस प्रकार कुछ कृतियाँ ऐसी होती हैं जो शुद्ध वस्तुपरक होती हैं जैसे 'जयभारत', कुछ मे व्यक्ति एक माध्यम मात्र होता है जैसे 'दीपशिखा' मे, कुछ मे व्यक्तिगत स्वर कुछ अधिक मुखर हो उठता है जैसे 'आँसू' में । इन्ही के समानान्तर हम 'कामायनी', 'मधुशाला' और 'ग्रंथि' को भी रख सकते है । इनसे भिन्न कुछ ऐसी रचनाएँ भी होती है जिनमे कवि केवल अपने को केन्द्र वनाकर चलता है ।

वस्तुपरक और व्यक्तिपरक रचनाओं मे से कौन अधिक प्रभावशाली हो सकती है, यह विवाद का विषय है; फिर भी निजी रचनाओं का एक निजी सौदर्य है, इसमें कोई संदेह नही । हम केवल किसी रचनाकार के कृतित्व के ही प्रेमी नहीं होते, उसके जीवन के सुख-दुःख से भी परिचित होना चाहते है और यह सुख-दुःख अकृत्रिम भाव से यदि उसके कृतित्व मे स्थान पाता है, तो उसका स्वागत हम भी अकृत्रिम भाव से करते हैं । यह कैसे हो सकता है कि जो साहित्यकार सम्पूर्ण जगत के सुख-दुःख को चित्रित करता है, वह अपने संबंध मे एकदम मौन रहे ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो वात बहुत स्वाभाविक लगती है, इतिहास उसके विरुद्ध कभी-कभी साक्ष्य उपस्थित कर देता है । इसके कारण होते हैं । अतीत के वहुत से लेखक अपने संबंध मे आवश्यकता से अधिक मौन रहे है । कही-कहीं ऐसा भी है कि वे अपने दुःख को एकदम पी गए है । ऐसे लेखकों की आज भी कमी नही है । यदि कोई लेखक किसी आदर्श, मर्यादा अथवा सिद्धांत के पालन के लिए अपने संयम का परिचय देता है, तो उसे हम आदर की दृष्टि से देख सकते हैं । इसके विपरीत काव्य के स्तर पर अपने को केन्द्र वनाकर भावनाओ की अभिव्यक्ति करने वाले साहित्यकार की वातें भी हमे सुननी चाहिए । उनसे न

केवल उसके जीवन पर, वरन् साहित्य पर भी प्रकाश पड़ता है।

मनुष्य अपने यौवन-काल मे बहुत संवेदनशील होता है और यदि उस समय उसे सहानुभूति के साथ समझनेवाले नही मिलते, तो कष्ट होता है। निराला जी का प्रारंभिक जीवन ऐसा था कि एक ओर तो जीविका के लिए उन्हे कठिन परिश्रम करना पड़ा, दूसरी ओर मुक्त छंद के प्रयोग के कारण उनके काव्य की कटु आलोचना हुई। इन दोनों बातों की चर्चा उन्होंने अपने गद्य-साहित्य मे ही नही, कविताओ मे भी की है—

(१) बढ़ जाता
प्रति-श्वास-शब्द-गति से उस ओर,
जहाँ हाय, केवल श्रम, केवल श्रम,
केवल श्रम, कर्म कठोर—
कुछ ही प्राप्ति, अधिक आशा का
कुटिल अधीर अशांत भरोर;
केवल अंधकार, करना वन पार
जहाँ केवल श्रम घोर।

(२) याद है वह हरित दिन
बढ़ रहा था ज्योति के जब सामने मैं
देखता
दूर-विस्तृत धूम्र-धूसर पथ-भविष्यत् का विपुल
आलोचनाओं से जटिल ...

निराला के काव्य से यदि हम उनकी मानसिक स्थिति का विश्लेषण करना चाहे तो उसमे निराशा, उज्ज्वलता और आशा का मिला-जुला चित्र पाया जाता है। जीवन की परिस्थितियाँ ऐसी है कि वे कवि को घोर निराशा मे डुबा देती हैं, पर वे हृदय से सच्चे और ईमानदार

हैं; अतः अपने हृदय की उज्ज्वलता को उस दुःख से मलिन नही होने देते। आस्तिक होने के कारण आशा का छोर वे कभी नहीं छोड़ पाते। आस्तिक व्यक्ति का अर्थ ही है आशावादी व्यक्ति। जो पाप-पुण्य, सत्-असत् को मानकर चलता है, जिसे ईश्वरीय विधान और उसके न्याय में विश्वास हैं, वह जानता है कि एक दिन असत् पर सत् की विजय होगी।

निराला की निराशावादी रचनाओ मे चार स्थितियों की स्पष्ट झलक मिलती है। पहली मनोवृत्ति जीवन-व्यापी दुःख को स्वीकार करने की है। यह दुःख इतना गहन है कि उसके सामने आत्मा की उज्ज्वलता की सार्थकता पर भी कवि सदेह करने लगता है। दूसरी वृत्ति इस घनीभूत पीड़ा के मूल कारण के अन्वेषण की है। कवि अनुभव करता है कि जीवन मे सभी ने उसके साथ छल किया है। स्वभावतः उसमे अकेलेपन की अनुभूति जगती है। एकाकीपन की अनुभूति आज विश्व के सभी बुद्धिजीवियो की समस्या है। इस एकाकीपन के मूल मे कवि को स्नेह का अभाव विशेष रूप से खटकता है। इसी से वह अत में एक प्रश्न के साथ अपनी हताश-भावना का परिचय देता है। दुःख से निराशा और निराशा से हताश-भावना तक आने मे कवि को मन के जिन स्तरो के पार जाना पड़ा है, उनका प्रतिबिंब निम्नलिखित रचनाओ मे स्पष्ट झलक रहा है—

(१) जीवन चिरकालिक क्रंदन।
मेरा अंतर वज्रकठोर,
देना जी भरसक झकझोर;
मेरे दुख की गहन अंध—
तम-निशि न कभी हो-भोर,
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता—
इतना वंदन अभिनंदन ?

(२) देख चुका जो-जो आए थे,
चले गए,
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए !

चिंताएं, बाधाएं,
आतीं ही हैं, आएं;
अंध हृदय है, बंधन निर्दय लाएँ;
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे
छले गए,
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए ?

(३) मैं अकेला;
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सांध्य-वेला।
पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मंद होती जारही
हट रहा मेला।
मैं अकेला।

(४) स्नेह निर्झर बह गया है,
रेत ज्यों तन रह गया है,
अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा,
बह रही है हृदय पर केवल अमा ....

(५) मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर, खिल न सकेगा ?

मेरे दुख का भार, झुक रहा,
इसीलिए प्रतिचरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर, क्या
महाभार यह झिल न सकेगा ?

मुझे स्नेह क्या ....

काव्य का कोई आंदोलन कब तक चलेगा, पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता। कभी कोई युग सैकड़ो वर्षों तक चलता है जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल, और कभी ऐसा भी होता है कि एक ही शताब्दी के अंतर्गत अनेक युग व्यतीत हो जाते हैं। बीसवी शताब्दी को ही लें तो पिछले साठ वर्ष मे इसने कई साहित्यिक आदोलन देखे है। हमारी आँखों के सामने ही द्विवेदी-युग, छायावाद-युग, उत्तर छायावाद-काल, प्रगतिवाद-युग और प्रयोगवाद-युग जन्म लेकर समाप्त हो गए। समकालीन होना और बात है और विकास के तत्त्वों का साथ देना और बात—समय के साथ चरण बढाकर चलना और बात। हमारे कवियों मे से कुछ ऐसे है जो अपने निर्धारित पथ पर अडिग बने रहे जैसे द्विवेदी-युग के मैथिलीशरण गुप्त और छायावाद-युग की महादेवी वर्मा; पर कुछ ऐसे भी थे जिन्होने नए साहित्यिक आंदोलनो का कुछ दूर तक साथ दिया जैसे पंत और निराला ने। अपने युग के संदर्भ मे दोनों ही युग-प्रवर्त्तक कवि हैं। पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका मे पिछले युगों की कटु आलोचना कर काव्य में नवीन चेतना का समारंभ किया, निराला ने मुक्त छंद का प्रयोग कर अपने विद्रोही स्वभाव का परिचय दिया, लेकिन जैसे ही छायावाद युग समाप्त हुआ कि काव्य मे दोनों का

नेतृत्व भी समाप्त हो गया। इसके उपरांत नया काव्य भिन्न स्रोतो से प्रेरणा ग्रहण करने लगा। चारों ओर ऐसी चर्चा चल पड़ी कि नए युग और नयी काव्य प्रवृत्तियों की तुलना मे पुराने छायावादी कवि कुछ पिछड़ गए हैं। यह काना-फूसी 'बच्चन' के लोक-प्रिय होते ही प्रारंभ हुई और अज्ञेय के प्रतिष्ठित होते ही यह धारणा और भी पुष्ट हो गयी। संभवतः ऐसी ही मानसिक स्थिति मे निराला ने 'हिंदी के सुमनों के प्रति पत्र' लिखते हुए ये पंक्तियाँ लिखी होंगी—

(क) मैं जीर्ण-साज बहु-छिद्र आज,
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन;
मैं हूँ केवल पदतल - आसन,
तुम सहज विराजे महाराज।
ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे यद्यपि
मैं ही वसंत का अग्रदूत
ब्राह्मण-समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।

(ख) यह सच है—
तुमने जो दिया दान दान वह
हिंदी के हित का अभिमान वह,
जनता का जन-ताका ज्ञान वह,
सच्चा कल्याण वह अथच है—
यह सच है!

लेकिन निराला के जीवन के मूल्य भिन्न प्रकार के हैं। अपने दुःख में भी उन्होंने कभी हृदय के छोटेपन का आभास नही दिया। अपनी पराजय स्वीकार करने पर भी कटुता उनमे कभी नही आयी। दूसरों के महत्त्व को स्वीकार करने की जो उदारता उनमे पायी जाती है, वह

उनके व्यक्तित्व के बड़प्पन का लक्षण है। हार स्वीकार करने से कोई आदमी छोटा नही हो जाता।

निराला के काव्य मे निराशा ही नही, आशा का स्वर भी प्रबल है। निराशा की अभिव्यक्ति यथार्थ के धरातल पर है, आशा की आदर्श के परिपार्श्व में। जीवन का यथार्थ उन्हे उदास कर जाता है, मन का स्वप्न आलोकित—

(१) चल रहा नदी तट को करता मन में विचार—
'हो गया व्यर्थ जीवन
मै रण में गया हार!'

(२) अभी न होगा मेरा अंत।
अभी अभी ही तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसंत—
अभी न होगा मेरा अंत।

मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बंधु दिगंत—
अभी न होगा मेरा अंत।

निराशा उनकी अजेय आत्मा को कभी कुंठित नही कर पायी। इसका श्रेय उनके विश्वासो, स्वप्नों और आदर्शों को है। जीवन मे दुःख के भार से झुकने पर भी कही कुछ ऐसा है जो उन्हे टूटने से बचाता रहा है। नियति और समय की गति के सामने किसी न किसी दिन पराजय सभी को स्वीकार करनी पड़ती है; परन्तु जिनकी आस्था आध्यात्मिक मूल्यों मे होती है, वे तमस से ज्योति की ओर जाने के ही अभ्यासी होते हैं—

कुछ न हुआ, न हो
मुझे विश्व का सुख, श्री, यदि केवल
पास तुम रहो!

मेरे नभ के बादल यदि न कटे—
चंद्र रह गया ढका,
तिमिर-रात को तिरकर यदि न अटे
लेश गगन-भास का,
रहेंगे अधर हँसते, पथ पर, तुम
हाथ यदि गहो।

संस्कृति का प्रश्न

'तुलसीदास' निराला का एक खंड-काव्य है। इसमें तुलसीदास के गृह-त्याग की प्रसिद्ध घटना का वर्णन मौलिक ढंग से हुआ है। गोस्वामी जी को राम-भक्ति की ओर उन्मुख करने मे उनकी पत्नी का मुख्य हाथ था। यह घटना क्योंकि अनायास घटित हुई; अतः कहा जा सकता है कि नियति की ही ऐसी इच्छा थी कि तुलसी एक सामान्य व्यक्ति के समान भोग का जीवन न व्यतीत कर ऐसे महाकाव्य का सृजन करें जिससे भारतीय जनता युग-युग तक आलोक ग्रहण करती रहे।

सन् ११९२ में तराइन के रण-क्षेत्र में मुहम्मद गोरी के समक्ष पृथ्वीराज चौहान की हार से हिन्दू-साम्राज्य का अंत हो गया। इसके उपरांत दिल्ली के सिंहासन पर गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदियों के शासन के बाद बाबर की सेना के सामने सन् १५२६ ई० मे पानीपत के मैदान मे इब्राहीम लोदी की सेना ने शस्त्र डाल दिए और भारत की भूमि पर मुगलो का आधिपत्य प्रारम्भ हुआ। तीन सौ वर्ष तक वे इस देश पर छाए रहे। तुलसीदास (सन् १५३२–१६२३) एक प्रकार से अकबर (सन् १५५६–१६०५) एक समकालीन थे। अकबर का शासन-काल मुगल-साम्राज्य के विकास और संघटन का काल था।

निराला ने अपनी कथा का प्रारम्भ मुग़लों के आतंक से किया

है। मुसलमानों ने वीर राजपूतों को परास्त कर न केवल देश पर आधिपत्य स्थापित किया, वरन् उनकी भौतिकवादी संस्कृति के प्रभाव का जाल-भी धीरे-धीरे चारों ओर फैलने लगा। समुद्र की दिशा में अभिमुख सरिताओं के समान न केवल भारतवर्ष के अनेक प्रान्त ही उनके साम्राज्य के गर्भ मे समा गए, वरन् उनकी विलास-भावना ने हिंदुओं को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। किसी विशाल देश के वीरों का पराजित होना ही कम दुःखदायी नहीं होता, पर वहाँ के प्रबुद्ध प्राणियो का विदेशी सभ्यता के आकर्षण-जाल मे आवद्ध होना तो एक अभिशाप ही माना जायगा।

दिल्ली के पथ मे यमुना के तट पर पड़ने वाले नगरों में उस समय राजापुर व्यवसाय का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यही एक ब्राह्मण के घर तुलसीदास का जन्म हुआ। वे शरीर से जैसे रम्य-दर्शन थे, स्वभाव से वैसे ही विनम्र और विद्या-व्यसनी। उनकी पत्नी का नाम रत्नावली था। एक दिन अपने मित्रों के साथ वे चित्रकूट दर्शन के लिए गए।

प्रकृति के सौंदर्य को देखकर तुलसीदास विस्मित हो उठते हैं। उन्हें लगता है प्रकृति उनसे कुछ कहने को आकुल है। उसके संदेश का सार यह है कि समय की गति बदल जाने से यहाँ की वर्षा में अब कीच अधिक है, नदियाँ शरद में क्षीणकाय हो जाती हैं, सूर्य आग अधिक उगलता है, झाड़ियों में काँटे-भर गए हैं। कहने का तात्पर्य यह कि जीवन के सभी पथ दुरूह हो उठे हैं। ऐसी दशा मे उनका कर्त्तव्य है कि ज्ञान का प्रसार कर इस देश के निवासियो को नवीन जीवन-दान दें।

विचार करने पर तुलसीदास ने पाया कि देश की अधोगति का मूल कारण वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा का नष्ट होना है। क्षत्रिय अब रक्षा करने मे असमर्थ हैं, ब्राह्मणों मे ज्ञान के स्थान पर चाटुकारिता

बढ़ रही है, वैश्य श्रीहीन हैं और शूद्र दलित तथा दीन। इस पर शासकों की भोगवादी वृत्ति से लोग बुरी तरह प्रभावित हैं। उन्होंने निश्चय किया कि वे इस अन्धकार से लड़ने के लिए संस्कृति के सूर्य की प्रखर किरणें लाएँगे।

उस द्वन्द्व के लिए तुलसीदास सन्नद्ध हुए ही थे कि उनकी स्मृति मे पत्नी की मधुर छवि जगी। रूप की ओर ध्यान जाने का परिणाम यह हुआ कि जो उज्ज्वल चेतना क्षण-भर के लिए स्पन्दित हुई थी, वह विलुप्त हो गयी। उस पहली प्रेरणा के हटते ही उन्होने पास खड़े अपने मित्रो की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। उनके साथ उन्होंने घूम-घूमकर चित्रकूट के रम्य स्थलों कामदगिरि; अनूसूया वन, भरत कूप, जानकी कुंड, स्फटिक शिला, हनुमद्धारा आदि के दर्शन किए; पयस्विनी को पार किया।

पत्नी के सौंदर्य का चिंतन वे फिर करने लगे। यह भावना यहाँ तक बढ़ी कि रत्नावली उन्हे सृष्टि के रूप मे दिखाई देने लगी। उन्हें ऐसा आभासित हुआ कि प्रेम का बन्धन ही व्यक्ति की वास्तविक मुक्ति है, बिल्कुल वैसे ही जैसे कली के जीवन की सार्थकता सूर्य की किरणो के सामने समर्पित होकर गंध विकीर्ण करने मे है। पर तुलसी की दृष्टि रत्नावली के बाह्य सौंदर्य पर अटकी थी, वह उसके आंतरिक सौंदर्य को न देख पायी थी; अतः उनके जितने तर्क थे, वे सब मुक्ति के नहीं, भोग के समर्थक थे।

ठीक इसी समय रत्नावली का भाई उसके घर आया। तुलसीदास अपनी पत्नी के प्रति इतने आसक्त थे कि बार-बार बुलाने पर भी उन्होने उसे उसके मायके न भेजा था। भाई ने जब माता, पिता और भाभी के अगाध स्नेह का हवाला दिया, गाँव वालों के असहनीय तानों को दुहराया तो रत्नावली का हृदय पिघल उठा और आँसू उसकी आँखों से बहने लगे। भाई की बात से प्रभावित हो, पति की

अनुपस्थिति मे ही वह नैहर चली गयी। तुलसी ने लौटकर जब प्रिया-हीन घर देखा, तो वह उन्हें उदास और उजड़ा हुआ लगा। अकेलेपन की अनुभूति से व्यथित हो वे विना कुछ सोचे-समझे उसी क्षण ससुराल को चल दिए। वहाँ शिष्टाचार के नाते उनका स्वागत तो हुआ, पर इस बात पर कानाफूसी भी होने लगी कि ये इतनी जल्दी आ कैसे गए। भाभी ने जब रत्नावली से ठठोली की तो वह कट कर रह गयी। भोजनोपरांत रात मे तुलसीदास का अपनी पत्नी से एकांत मे सामना हुआ। आँधी उठने के पूर्व जैसे आकाश शांत रहता है, वैसे थोड़ी देर निस्तब्धता रही। फिर रत्नावली ने क्षोभपूर्वक कहना प्रारम्भ किया—कितनी लज्जा की बात है कि तुम यहाँ विना बुलाए चले आए। समझदार व्यक्ति का व्यवहार क्या ऐसा ही होना चाहिए ? प्रबुद्ध प्राणी को तो संसार से ऊपर उठकर अपना मन ईश्वर की ओर लगाना चाहिए और एक तुम हो कि इस हाड़ मांस के शरीर पर आसक्त हो। मुझे लगता है कि तुम्हे न अपने सम्मान का ध्यान है और न किसी दूसरे की मर्यादा का।

इतना सुनना था कि तुलसीदास की आँखें खुल गईं। जहाँ आघात लगना चाहिए था, वहाँ उनका मन एक प्रकार के उदात्त भाव का अनुभव करने लगा। अकस्मात् समस्त सृष्टि मे उन्हे एक रहस्यमयी ध्वनि सुनाई दी। यह ध्वनि उन्हे अपने हृदय में भी गूँजती प्रतीत हुई। उन्होने स्पष्ट रूप से सुना कवि की चेतना जीवन की जड़ता से अब निरन्तर युद्ध करेगी और एक दिन आसुरी भावों पर दैवी भावों की जय होगी। तुलसी जब प्रकृतिस्थ हुए तो उन्होने अपनी पत्नी के प्रति किसी प्रकार का क्षोभ नही प्रकट किया। मन मे क्रोध के लिए अब स्थान ही कहाँ रह गया था। उन्होने अत्यन्त शांत भाव से इतना ही कहा : जो आलोक मुझे तुमसे मिला है, उसे मैं अपने अन्तःकरण में सदैव सुरक्षित रखूंगा। ऐसी स्थिति मे मेरे घर लौटने का प्रश्न अब

नही उठता। रत्नावली यह सुनकर सन्न-सी रह गयी। वह नहीं जानती थी कि बात यहाँ तक बढ़ जायगी। उसकी आँखें आँसुओं से भर उठीं। उसने समझ लिया कि सब समाप्त हो चुका है। तुलसीदास चुप चरणों से बाहर चले गए। उनका हृदय आनन्द से परिपूरित था। प्रभातकाल हो चुका था और प्राची दिशा मे किरणें आलोक बरसा रही थी।

सौ छंदों के इस खंड-काव्य का कथानक तुलसीदास के जीवन से सम्बन्धित तक किंवदंती पर आधारित है। कथा का आधार अत्यन्त सूक्ष्म है। 'तुलसीदास' एक लम्बी काव्य-कथा है जिसमे सूक्ष्म .विवरणों और मानसिक चित्रों का आधिक्य है। तुलसीदास के मन के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण कवि ने कई स्थानों पर किया है। चित्रकूट मे प्रकृति के दर्शन से उनका मन स्थूल आवरण को भेंदकर सूक्ष्म लोक मे प्रवेश करता ही है कि रत्नावली का मुख उन्हें उदित होता दिखाई देता है और क्षण-भर के लिए जिस मोह से वे मुक्त हुए थे, उसी मोह मे फिर ग्रस्त हो जाते हैं। ससुराल मे पत्नी से साक्षात्कार होने पर उनकी आसक्ति पर व्यंग्य के छीटे पड़ते हैं, जिससे वे जीवन से विरक्त होकर भक्ति की ओर मुड़ जाते हैं। ये दोनो स्थल बड़े सशक्त है और इनमे व्यक्ति के मनोविज्ञान का पूरा ध्यान रखा गया है। प्रकृति का जैसा उपयोग निराला जी ने यहाँ किया है, वैसा कम कवि कर पाते हैं। प्रारम्भ से ही इनकी प्रकृति संकेतमयी है। उसी के माध्यम से कवि ने दो संस्कृतियों के वैपम्य की कथा समझायी है, उसी के आधार पर तुलसी के अंतर्द्वन्द्व को चित्रित किया है और वही उन्हे मोह के पर्दों को सरका कर सत्य के दर्शन कराती है। इस रचना मे प्रकृति के कई विराट चित्र अंकित हुए हैं। उसकी, जड़ता और चेतना दोनों को ठीक से पहचान कर कवि ने उसके मायामय और चिन्मय दोनों स्वरूपो का अच्छा उद्घाटन किया है।

यही दशा नारी की है। नारी वंधन का कारण भी है और मुक्ति का कारण भी। रत्नावली के उदाहरण से निराला ने इस तथ्य को प्रत्यक्ष कर दिया है। यह कथा पुरुष की शक्ति और सीमा की भी परिचायिका रहेगी। तुलसी जैसा रूपासक्त व्यक्ति भारतीय संस्कृति का सवसे महान् संदेशवाहक वन सका, यह कम आश्चर्य का विषय नही है।

'तुलसीदास' में हिंदू और मुस्लिम संस्कृति की चर्चा हुई है। इससे यह नही समझना चाहिये कि वे एक के पक्ष मे थे, दूसरी के विरोधी। कथानक के अनुरोध से उन्हे वैसा कहना पड़ा है। वास्तव मे उनकी दृष्टि आलोकमयी है। हिन्दू-मुसलमान यहाँ प्रतीक मात्र हैं। निराला भौतिकवाद की तुलना में अध्यात्मवाद के समर्थक हैं। वे अंततः आध्यात्मिक मूल्यों के पक्षपाती हैं। यह रचना एक विशेष काल और कवि से संवंध रखती हुई भी देश-काल के वंधनो से परे है। अज्ञान का ज्ञान से, भौतिकता का आध्यात्मिकता से संघर्ष चिरंतन है। उसे किसी प्रकार की सीमाओं मे आवद्ध करना ठीक नहीं होगा। कोई ऐसा काल नही है, जव इस संघर्ष की आवश्यकता न पड़ती हो। 'तुलसीदास' की रचना दो दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। एक तो उस समय हमारा देश विदेशी-शासन से लोहा लेरहा था। निश्चय ही उसका प्रभाव इस रचना पर है—चाहे वह दिखाई न देता हो। हम चाहे तो मुगलों के स्थान पर अंग्रेजो को रख सकते हैं। अग्रेज भी हमारी संस्कृति पर वैसे ही हावी हो रहे थे जैसे मुसलमान। दूसरे, वह युग प्रगतिवाद के आंदोलन का भी था। निराला जी आस्तिक और अध्यात्मवादी थे, यह इस कृति से स्पष्ट हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रगतिशील होने के लिए किसी कवि का प्रगतिवादी होना आवश्यक नही है।

'तुलसीदास' के मूल मे और भी वहुत-सी वातें रही होंगी; पर मुझे ऐसा संदेह होता है कि 'प्रसाद' की 'कामायनी' भी इन प्रेरणाओं

मे से एक थी । 'कामायनी' सन् १६३६ मे प्रकाशित हुई, 'तुलसीदास' दो वर्ष के उपरांत सन् १६३८ मे । 'कामायनी' मे एक सांस्कृतिक सदेश निहित है, 'तुलसीदास' मे भी । 'कामायनी' एक चिंतन-प्रधान रचना है और 'तुलसीदास' भी । दोनो ही ग्रन्थो का प्रारम्भ अवसाद के वातावरण मे हुआ है और अंत आनन्द मे । सबसे बड़ी बात यह है कि रहस्य सर्ग मे जैसे श्रद्धा मनु को तीन लोकों के दर्शन कराती हुई जीवन की व्यवस्था के लिए इच्छा, कर्म और ज्ञान के सामंजस्य पर बल देती है, वैसे ही तुलसीदास रत्नावली के माध्यम से जीवन के चरम सौंदर्य की ओर मुड़ते हैं । यदि चिंतन के विस्तार का प्रश्न छोड़ दें तो 'तुलसीदास' की विचार-धारा 'कामायनी' से कम व्यवस्थित ढंग की नही है । इससे यह समझने की भूल न की जाय कि 'तुलसीदास' को हम 'कामायनी' जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं ।

भारतीय-संस्कृति के उद्धार मे आधुनिक-काल के एक बड़े कवि ने अतीत के एक महान् कवि को रत दिखाकर सृष्टि की व्यवस्था में कवियों के महत्त्व की उद्घोषणा की है ।

वाद-विवेचन

बीसवी शताब्दी का काव्य 'वादों' का काव्य है। वाद-मुक्त कविता लिखी ही न गयी हो, ऐसा नही है; पर अधिकांश कवि किसी-न-किसी वाद से सम्बद्ध रहे हैं। ये वाद आधुनिक-काव्य को यहाँ तक प्रभावित करते हैं कि साहित्यिक आंदोलनो से सम्बंधित कई युगो का नाम इन्ही के आधार पर रखा गया है। इस शताब्दी के काव्य का काल-विभाजन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१)	द्विवेदी युग	१९००—१९१५
(२)	छायावाद युग	१९१५—१९३५
(३)	प्रगतिवाद युग	१९३५—१९४३
(४)	प्रयोगवाद युग	१९४३—

इस प्रकार पिछले आठ वर्षो में समय-समय पर अनेक वादों का प्रचार हुआ जैसे छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद, प्रगतिवाद, प्रयोग-वाद, निराशावाद, आनंदवाद, गांधीवाद, मार्क्सवाद, अरविंदवाद, अभि-व्यंजनावाद, प्रतीकवाद, अतियथार्थवाद, बिंबवाद आदि। इनमें कुछ वाद राजनीति और दर्शन से सम्बंधित हैं, कुछ विशेष जीवन-दृष्टियो से, कुछ काव्य-वस्तु से और कुछ टेकनीक से। वादों से सम्बंधित विचार-विमर्श मे आलोचकों ने ही नही, कवियों और प्रबुद्ध पाठको ने भी खुलकर भाग लिया। इस प्रचुर सामग्री के दर्शन से जहाँ हमारे साहित्य-

कारों और साहित्य-प्रेमियों की जागरूकता का पता चलता है, वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मतभेद, पूर्वाग्रह और दलबंदी की वृत्ति ने बात को सुलझाने के स्थान पर और अधिक उलझा दिया है। सामान्य पाठक इस वाग्जाल मे ऐसा फँस जाता है कि अनेक ग्रंथों के अध्ययन के पश्चात् भी उसके मस्तिष्क मे कोई स्पष्ट चित्र नहीं उठ पाता। अतः आधुनिक काव्यधारा की मूल प्रवृत्तियों के लिए आगे हम कुछ प्रमुख वादो का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करने जा रहे हैं। निराला जी क्योंकि इन वादों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे सम्बद्ध रहे हैं; अतः यह अध्ययन और भी आवश्यक हो उठा है।

छायावाद

छायावाद बीसवीं शताब्दी का सबसे विवाद-ग्रस्त वाद है। प्रारम्भ मे आधुनिक कविता का विरोध करने और उसका मज़ाक उड़ाने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया; पर यह शब्द कुछ ऐसा प्रचार पा गया कि विशेष अर्थ का द्योतक बन बैठा। यही कारण है कि प्रारंभ मे इसकी जो व्याख्याएँ की गईं, वे बहुत अनिश्चयात्मक ढंग की थी। सबसे पहले इस शब्द से यह आशय ग्रहण किया गया कि जो समझ में न आये, उसे छायावाद कहते हैं। न जाने कैसे कुछ लोगों ने यह समझ लिया कि छायावाद का छाया से किसी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी से उस काल की बहुत-सी व्याख्याओं में छाया शब्द का प्रयोग मिलता है। लेखको का एक वर्ग ऐसा भी था जो मनोविकारों पर लिखी गयी रचनाओं को छायावाद के अंतर्गत समझता था। मनोविकार एक तो वैसे ही सूक्ष्म होते हैं और जब उनकी अभिव्यक्ति व्यंजनात्मक शैली मे की गयी, तो वे और भी दुर्बोध हो उठे। दुर्भाग्य से इस दुरूहता को छायावाद का लक्षण माना जाने लगा। कुछ आलोचकों ने सूक्ष्म भावनाओ से युक्त समस्त आधुनिक-काव्य को छायावाद की संज्ञा दी।

इसमे उन्होने भूल से सौंदर्य, प्रेम और करुणा के प्रसंग भी समेट लिए।

हिंदी के कई आलोचक छायावाद को कथ्य का भेद न मानकर शैली का एक भेद मानते हैं। उनकी दृष्टि के केवल ऐसी रचनाओ को छायावाद की रचना मानना चाहिए जिनमे अमूर्त्त उपमानो, लाक्षणिक प्रयोगों, चित्रमयी भाषा, अप्रस्तुत-विधान और प्रतीक-शैली का आधिक्य हो। लेकिन भाषा और अभिव्यक्ति की वक्रता के प्रयोग सभी कालों की रचनाओं मे थोड़े-बहुत पाए जाते है। आधुनिक-काव्य मे इनका प्रयोग कुछ प्रचुरता से होने लगा है, यह दूसरी बात है।

स्पष्ट है कि ये सारी व्याख्याएं आगे चलकर अस्वीकार कर दी गई।

हम इस बात पर प्रारम्भ से ही ज़ोर देते चले आए है कि छाया-वाद प्रकृति-वर्णन का एक प्रकार है। आधुनिक युग मे प्रकृति को एक नयी दृष्टि से देखा गया। इस मौलिक दृष्टिकोण का परिचय सभी प्रमुख छायावादी कवियो की रचनाओं से मिलता है। इन कवियो ने प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता घोषित की, उसके व्यक्तित्व को स्वीकार किया, उसे चेतन माना और इसके साथ ही उसे भावो के आदान-प्रदान के योग्य समझा। इन विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए, यह कहा जा सकता है कि प्रकृति मे चेतना की अनुभूति को छायावाद कहते हैं।

चेतना की अनुभूति और उसके आरोप के अंतर को हम सभी समझते हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे नदियों और पक्षियो को बातचीत करते दिखाया गया है जैसे भवभूति के 'उत्तररामचरित' और जायसी की 'पद्मावत' मे। ये वर्णन काल्पनिक हैं और हमारी परिभाषा के अंतर्गत नही आते। इसी प्रकार तुलसी के 'रामचरित-मानस' और मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' मे जो लताओ का वृक्षो से लिपटना, नदियों का समुद्र की ओर उमडकर जाना, धरती का पुलकित होना, चारु चंद्र की चंचल किरणों का जल-थल में खेलना और कलियो का मंद मुस्काना है, वह कवि की ओर से आरोप के रूप मे। कवि को

विशेष स्थितियों मे ऐसा आभासित होता है।

अब तक प्रकृति को जो विविध रूपो मे देखा गया है, उसमे उसके सबसे महत्त्वपूर्ण रूप की उपेक्षा होती आयी है। इस प्रकृति के प्रति कवि उदासीन रहे, उसे आध्यात्मिक सदेश की वाहिका माना गया, उसे उपदेश का माध्यम बनाया गया, उद्दीपन के रूप मे उसका जी खोलकर उपयोग किया गया, अलंकरण के रूप मे उसका व्यवहार हुआ और चौमासा एवं बारहमासा के वर्णन के रूप मे ऋतुओ की विशेषताएं गिनायी गयी; पर सभी स्थानो पर व्यक्ति ही प्रमुख रहा, प्रकृति नही। छायावाद-युग को छोड़कर अन्य किसी कवि ने प्रकृति की आत्मा के दर्शन नही किए। अतः प्रकृति के शरीर की सुन्दरता के साथ उसकी आत्मा की सुन्दरता का परिचय देना छायावाद-युग की मौलिक विशेषता कही जा सकती है।

छायावाद मे प्रकृति के जीवन का चित्रण बिलकुल वैसे ही होता है, जैसे सामान्य नर-नारी के जीवन का। अतः छायावाद-युग की प्रकृति चेतन है, सजीव है, स्पंदनशीला है। जहाँ तक निराला जी का सम्बंध है, वे प्रकृति की आत्मा मे गहरे से गहरे उतर कर उसके साथ अपने मन का तादात्म्य स्थापित करने वाले कवियो मे से हैं। आकृति-अंकन के लिए इनकी 'संध्या सुन्दरी' बहुत प्रसिद्ध है। वासना-दीप्त सौंदर्य का वर्णन 'शेफालिका' मे मिलता है। प्रकृति के तत्त्वो मे प्रणय की उद्दाम क्रीड़ा देखनी हो, तो 'जुही की कली' को पढ़ना चाहिए। 'यमुना के प्रति', 'तरंगो के प्रति', 'प्रपात के प्रति' आदि कविताओं मे कवि ने प्रकृति की कुछ निजी भावनाओ का चित्रण किया है। इनकी 'वन वेला, और 'नर्गिस' तो सीधे कवि से वार्तालाप करने की सामर्थ्य रखती हैं। यहाँ प्रकृति से व्यक्ति को एक मित्र का सा निश्छल व्यवहार प्राप्त होता है, कुछ ऐसी आत्मीयता की प्राप्ति होती है जो मनुष्य को मनुष्य से सामान्यतया नही मिलती।

'अनामिका' और 'परिमल' से आगे बढ़ कर छायावादी वृत्ति 'गीतिका' मे और भी मुखर हो उठी है। उसमे ऊषा और संध्या आकाश से उतरती हैं, सरिताएँ अपनी चेतन गति का परिचय देती हैं, प्रकृति का यौवन खिलकर मन को मुग्ध करता है। यही प्रकृति जहाँ वसंत में किसी का स्वागत करती है, वही पतझर मे विरह मे मग्न दिखाई देती है। 'गीतिका' के गीत एक माला के सुमन हैं, अतः उसमे भावना काफ़ी व्यवस्थित रूप मे व्यक्त हुई है।

छायावादी वृत्ति के क्षेत्र में निराला कृत 'तुलसीदास' का अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान रहेगा। इसमें प्रकृति मनुष्य की प्रेरक शक्ति बनकर जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य का सम्पादन उससे कराती है। यदि तुलसीदास चित्रकूट-यात्रा पर न गए होते और वहाँ की रम्य प्रकृति का दर्शन उन्होंने न किया होता, तो कौन कह सकता है कि नारी के मोह से आबद्ध उनका मन सूक्ष्म चेतना के सोपानों पर चढ़ कर आलोक के उस दिव्य लोक में कभी प्रवेश पाने का अधिकारी होता, जहाँ से किसी देश की संस्कृति के उद्धार की महती चेतना जन्म लेती है। सूर्यास्त और नवीन सूर्योदय के बीच की यह कथा प्रकृति के माध्यम से ही कही गयी है। यहाँ प्रकृति मनुष्य को केवल अपने अंक मे धारण ही नही करती, उसकी चेतना के विकास मे सहायक भी होती है। यह ठीक है कि जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्यों का विधाता मनुष्य ही है; पर वह प्रकृति के बिना सभी कही अधूरा प्रतीत होता है।

रहस्यवाद

जैसे छायावाद प्रकृति-वर्णन का एक प्रकार है, वैसे ही रहस्यवाद प्रेम-वर्णन का। व्यक्ति का प्रेम या तो लौकिक के प्रति होगा या अलौकिक के। अलौकिक मे भी भावना या तो सगुण का आश्रय लेकर

चल सकती है जैसे तुलसी और सूर की या निर्गुण का जैसे कबीर और जायसी की। अतः प्रेम जब ब्रह्म के प्रति व्यक्त होता है तो उसकी संज्ञा रहस्यवाद होती है। इस प्रकार काव्य मे आत्मा-परमात्मा के पारस्परिक प्रणय-व्यापार को रहस्यवाद कहते है। रहस्यवादी का प्रेम एक ओर सामान्य प्रेम से भिन्न है, क्योंकि वह लौकिक के प्रति न होकर अलौकिक के प्रति होता है; वह भक्त की भावना से भिन्न है, क्योंकि वह किसी अवतार अथवा देवी-देवता के प्रति न होकर सृष्टि के सचालक के प्रति होता है; वह छायावादी प्रेम से भिन्न है, क्योंकि वह प्रकृति के प्रति न होकर, ब्रह्म के प्रति होता है और वह अध्यात्म-वृत्ति से भिन्न है, क्योंकि अध्यात्मवाद बुद्धि-व्यापार है, उसके लिए परम तत्त्व का प्रणयी होना आवश्यक नहीं है।

रहस्यवाद की ओर व्यक्ति का झुकाव अनेक कारणों से होता है। इस सृष्टि को देखकर ऐसा विश्वास जग सकता है कि इसका नियामक कोई है। कुछ प्राणियो मे वैराग्य के संस्कार जन्मजात होते है। परिणाम यह होता है कि ऐसे लोग एक दिन संसार से विरक्त होकर तत्त्व-चिन्तन की ओर और तत्त्व-चिंतन से रहस्यवाद के क्षेत्र मे जा निकलते हैं। कभी-कभी दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन से भी रहस्य की वृत्ति जग उठती है। संसार मे दुःख और बुराई से घबराकर भी लोग ऐसा आश्रय ढूँढते हैं, जहाँ जीवन का दुःख सदैव को समाप्त हो जाता है। सौंदर्य भी. व्यक्ति को रहस्यवादी बनाने में सहायक होता है। लौकिक सौंदर्य के प्रेमी प्राय: परम सुन्दर के प्रेमी बनते देखे गए हैं।

. उपनिषद् ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ है; अतः रहस्यवाद का मूल एक प्रकार से वेदो मे ही रक्षित है। वहाँ ऋषियों के तत्त्व-चिंतन की परिसमाप्ति जड़ता के सारे आवरणो को भेदकर ब्रह्म की प्रतिष्ठा मे हुई है। हिन्दी-काव्य मे रहस्यवाद का उद्भव सातवी शताब्दी से

समझना चाहिए। बौद्ध-धर्म के पतन-काल मे वज्रयानी शाखा मे तंत्र-मंत्र के उपासको की वृद्धि हुई। योग की क्रियाओ मे विश्वास रखने वाले बहुत से तांत्रिक और कापालिक अनेक प्रकार के चमत्कारों का प्रदर्शन कर जनता को प्रभावित करने लगे। ये लोग सिद्ध कहलाते थे। इनमे सबसे पुराने हैं—सरहपा अथवा सरोजवज्र। इनके अतिरिक्त लूहिपा, विरूपा, कण्हपा, राहुलपा, अनंगपा, कपालपा और मणिभद्रा आदि भी उल्लेखनीय हैं। सिद्ध लोग योग की क्रियाओं द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने की बात करते थे; अतः मूर्ति-पूजा के विरोध मे वे आंतरिक साधना पर जोर देते थे। इनके रहस्यवाद मे कुंडलिनी, षट्चक्र, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना, ब्रह्मरंध्र और अनहदनाद आदि की चर्चा सामान्यतया हुई है। काव्य इनका प्रतीकात्मक और सांकेतिक है। लेकिन ये अपने को लौकिक सुख मे दूर नही रख सके। मदिरा, मांस, मैथुन का इनकी साधना से कोई विरोध नही। ब्रह्म-सुख की तुलना इन्होने स्त्री-मुख के मिलन-सुख, से की है। इस भावना के आधार पर योगी और शक्ति अर्थात् स्त्री-पुरुष का मिलन नग्न रूप में होने लगा। सिद्धों का ऐसा समाज 'गुह्य समाज' कहलाता था जहाँ ये 'महासुख' की प्राप्ति मे लीन रहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सिद्धों का 'गुह्य-काव्य' अनेक स्थलो पर अत्यन्त अश्लील हो उठा है।

सिद्धों के इस अनाचार से पीड़ित हो गोरखनाथ ने रहस्य-साधना के लिए तेरहवी शताब्दी मे एक नया पंथ चलाया जिसे 'नाथ-पंथ' कहते हैं। नाथ-पंथियो मे भी साधना योग के आधार पर चलती थी, ये भी अंतर्मुखी वृत्ति के लोग थे, ये भी चमत्कारो मे विश्वास करते थे; पर सिद्धो की भांति ये स्थूलता के उपासक न होकर सूक्ष्मता के प्रेमी थे। गोरखनाथ ने अपनी वाणी मे आचरण की पवित्रता पर बहुत जोर दिया है। नाथों मे गोरखनाथ के अतिरिक्त नागार्जुन, सत्यनाथ और

जलंधर आदि उल्लेखनीय हैं।

चौरासी सिद्धों और नौ नाथों के उपरांत सन्तों का आविर्भाव हुआ। इनमे कबीर, रैदास, गुरुनानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास आदि अनेक प्रसिद्ध कवि हुए। कबीर का जन्म चौदहवीं शताब्दी के अंत की ओर माना जाता है। सन्तों ने बहुत-सी बातें परम्परा से प्राप्त की। ये लोग भी निर्गुण के उपासक होते हैं और अंतःसाधना पर जोर देते हैं। सिद्धों और नाथों के समान कबीर ने भी हठयोग के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अपनी कविता में किया है। उनकी वाणी भी वैसी ही अटपटी है। इनके रहस्यवाद मे ईश्वर की कल्पना पति और आत्मा की पत्नी-रूप मे की गई है। यद्यपि समाज-सुधारक के रूप मे कबीर की वाणी ओजपूर्ण और कर्कश है; पर जहाँ तक इनकी मधुर-भावना का सम्बन्ध है, उसकी कोमलता, विनयशीलता और आर्द्रता पाठको के हृदय को छूने का पूरा सामर्थ्य रखती है।

प्राचीन रहस्य-काव्य मे सूफियों के योगदान को कभी विस्मरण नही किया जा सकता। मलिक मुहम्मद जायसी के अतरिक्त सूफी-विचार-धारा के अध्ययन मे कुतबन, मंझन, उसमान, नूरमुहम्मद आदि के काव्य से बड़ी सहायता मिलती है। सन्तों के विपरीत ईश्वर की कल्पना ये लोग नारी और साधक की पुरुष रूप में करते हैं। सन्तों ने जहाँ अपनी भावना स्फुट-काव्य के आधार पर की है, वहाँ इनकी कल्पना प्रबन्ध-काव्य का आश्रय लेकर बही है। इन प्रबन्ध-काव्यो के बीच-बीच मे इन्होने उस अलौकिक सत्ता की ओर जो संकेत किए हैं, वे बड़े रहस्यमय और रम्य हैं। कहने की आवश्यकता नही कि इनके रहस्यवाद मे इस्लामी विचार-धारा का गहरा प्रभाव है। इसके साथ ही भारतीय विचारधारा से ये कम प्रभावित नही। अहिंसा और प्रेम की भावना इन्होने हमारे यहाँ के वैष्णवो से ग्रहण की। सृष्टि के सौंदर्य को ये उसके सौंदर्य की छाया मानते है; अतः इनका काव्य प्रतिबिंबवाद से प्रभावित है। ये भी निर्गुण

के प्रेमी है और दर्शन मे अद्वैत के समर्थक। सूफी रहस्य-भावना का सबसे सुन्दर विकास जायसी की रचनाओं मे सोलहवी शताब्दी मे हुआ। इस प्रकार प्राचीन रहस्य काव्य मे हम चार प्रमुख कवियो—सिद्धों में सरहपा, नाथो मे गोरखनाथ, सन्तों में कबीर और सूफियो मे जायसी—की गणना कर सकते हैं।

इसके उपरांत भक्ति का आंदोलन प्रारम्भ हुआ और उसकी प्रतिक्रिया मे लौकिक-काव्य का उदय। परिणाम यह हुआ कि तुलसी, सूर, बिहारी और देव की रचनाओं के सामने रहस्य-काव्य दब-सा गया। हाँ, बीसवी शताब्दी मे फिर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ खडी हुई जिनसे इस काव्य का स्फुरण नए रूप मे हुआ। राम की उपासना तो तुलसी और केशव के उपरांत ही तिरोहित-सी हो गयी थी। राधा-कृष्ण की आड़ मे अतीत के काव्य मे अश्लीलता और लौकिकता का कुछ ऐसा प्रचार बढा कि कृष्ण-भक्ति को पुनर्जीवित करना कठिन हो गया। इधर विज्ञान के विकास ने धीरे-धीरे बुद्धिवादियो के हृदय मे भक्ति-भावना को शिथिल किया। इसके अतरिक्त आर्य-समाज का आंदोलन मूर्ति-पूजा का घोर विरोधी रहा। इस युग मे मे थ्योसौफीकल सोसाइटी, ब्रह्म-समाज और रामकृष्ण मिशन भी ब्रह्म की उपासना के पक्षपाती रहे। आधुनिक हिंदी कविता इन प्रभावों से अछूती नही रह सकती थी।

आधुनिक रहस्यवाद मे ईश्वर की कल्पना कही पुरुष रूप मे हुई हैं, कही नारी रूप मे और कही उसे आलोक के रूप मे भी देखा गया है। निराला जी सम्पूर्ण आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं; अतः उनके काव्य मे रहस्यवाद की केवल झलक ही पायी जाती है। महादेवी जी के समान निर्गुण के प्रति प्रेम उनके हृदय की स्थायी वृत्ति नही है। वेदांत के आधार पर अध्यात्म-चिंतन उनमे अधिक है। उनकी 'तुम और मैं' ही एक ऐसी रचना है जिसमें आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से हुई है, नहीं तो 'कण', 'वसंत समीर'

ग्रौर 'पंचवटी-प्रसंग' मे ग्राध्यात्मिक स्थितियों के विवरण ही अधिक है। ग्रन्य कवियों के समान ग्राकर्पण, विरह, मिलन ग्रौर एकाकार के वर्णन इनकी रचनाग्रो मे विरल ही है। केवल 'गीतिका' मे रूप के कुछ ऐसे चित्र हैं जिन्हे दिव्य कहा जा सकता है। कुल मिलाकर निराला ग्रद्वैत-वादी अधिक हैं, रहस्यवादी कम; लेकिन रहस्य-भावना का जितना भी स्फुरण इनके काव्य में हुग्रा है, वह स्वाभाविक ग्रौर सच्चा है।

प्रगतिवाद

साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित काव्य को प्रगतिवादी-काव्य कहते हैं। प्रगतिवादी काव्य एक प्रकार से मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप है। मार्क्सवादी दर्शन का नाम है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। इसके ग्रनुसार दो विरोधी तत्वो मे निरंतर संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष मे जिसकी विजय होती है, उसे फिर किसी तत्व से संघर्ष करना पड़ता है ग्रौर इस प्रकार विकास की परंपरा विकसित होती रहती है। इस संघर्ष के लक्षण प्रकृति के कण कण मे दिखाई देते हैं। व्यक्ति, समाज ग्रौर सृष्टि का विकास इसी संघर्ष पर निर्भर करता है। इस समय संसार पूंजीपति ग्रौर सर्वहारा दो वर्गों मे बँटा हुग्रा है जिनमे से एक को शोषक ग्रौर दूसरे को शोषित कहते है। इस संघर्ष मे सर्वहारा की विजय निश्चित है। मजदूर इसी सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि है। वर्त-मान संघर्ष का ग्रंत वर्गहीन समाज की स्थापना मे होगा। उस दिन संसार से शोषण समाप्त हो जायगा।

दर्शन मे मार्क्सवाद भारतीय ग्रद्वैतवाद का विरोधी वाद है। मार्क्स-वादी भौतिकवादी होते है, ग्रद्वैतवादी अध्यात्मवादी। एक संसार को सत्य मानता है, दूसरा स्वप्न; एक ग्रात्मा मे विश्वास करता है, दूसरा नही करता, एक नास्तिकता का प्रचार करता है, दूसरा ग्रास्तिकता का; एक धर्म को नही मानता, दूसरा मानता है। कुछ विचारको ने मार्क्स-

वाद और अद्वैतवाद के समन्वय की वात उठाकर जीवन मे एक पूर्णतर वाद की कल्पना की है; पर हमारी दृष्टि से यह समन्वय काल्पनिक ढंग का है।

जैसा अभी संकेत कर चुके हैं, मार्क्सवादी चेतना को सत्य न मानकर पदार्थ को सत्य मानते हैं। उनकी दृष्टि से चेतना भी पदार्थ का एक रूप है। उनका विश्वास है कि संसार कार्य-कारण की शृंखला से वँधा है अर्थात् सृष्टि में जो कुछ घटित होता है, उसका कोई न कोई कारण है। उनके अनुसार सृष्टि के सभी कार्यों की वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की जा सकती है। इसीसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को वैज्ञानिक भौतिकवाद भी कहते हैं।

हिंदी-काव्य मे प्रगतिवाद का आरम्भ सन् १९३६ के आसपास से मानना चाहिए जव 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की प्रथम वैठक स्वर्गीय प्रेमचंद जी के सभापतित्व मे लखनऊ मे हुई। उत्तर छायावाद-काल का एक प्रकार से यह सबसे सशक्त वाद है। पर जहाँ तक प्रगतिवादी काव्य का सम्वन्ध है, उसे वहुत समृद्ध नही कहा जा सकता। प्रारम्भ मे वहुत कुछ ऐसा लिखा गया जिसमे प्रचार-भावना, अश्लीलता, वीभत्सता, नास्तिकता और कलाहीनता का प्राधान्य रहा। इतना होने पर भी जिनकी दृष्टि कुछ स्वच्छ रही, जिन्होने अंतःकरण की प्रेरणा से लिखा, जो प्रगतिवादी आलोचको के प्रभाव एवं राजनीति के आतंक से मुक्त होकर सृजन में रत रहे, उनके काव्य में एक प्रकार की शक्ति, स्फूर्ति और मार्मिकता के दर्शन होते है। प्रगतिवाद-युग के अपेक्षाकृत अच्छे कवियों में हम नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमगलसिंह सुमन और डा० रामविलास शर्मा के नाम ले सकते हैं

हमारी दृष्टि से राजनीति में जो मार्क्सवाद है, साहित्य में वही प्रगतिवाद; इसी से प्रगतिवादी होने के लिए कवि का मार्क्सवादी होना आवश्यक है। जो अपनी विचारधारा मे साम्यवादी नही है, वह फिर

प्रगतिवादी भी नही हो सकता । अतः प्रगतिवादी आलोचकों ने जो एक ओर कबीर और तुलसी को, दूसरी ओर भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत, दिनकर आदि को एक दिन प्रगतिवादी घोषित किया था, वह उनका शुद्ध दृष्टि-भ्रम था । अब तो यह बात किसी से छिपी नही रह गयी है कि वह कोई गंभीर घोषणा न थी,—एक नीति थी।

प्रगतिवाद कोई महान् कवि उत्पन्न नहीं कर पाया, यह चिंतनीय अवश्य है; पर मार्क्स-दर्शन से प्रभावित काव्य प्रथम श्रेणी का नहीं हो सकता, ऐसा हम नही मानते । प्रगतिवादी संसार को सत्य मानते हैं, धरती को प्यार करते हैं, संघर्ष मे विश्वास करते हैं, लौकिक-जीवन को सुखपूर्ण बनाने के पक्ष मे हैं, अर्थ के विषम विभाजन को सभी प्रकार के अनर्थ की जड़ मानकर जो शोषित है उसे समाज मे न्यायपूर्ण स्थान दिलाने के लिए, क्रांति के लिए सन्नद्ध करते है; अतः ये लोग पृथ्वी की गरिमा और जीवन की सुन्दरता के आलोक से भी हमे परिचित करा सकते है, इसमे कोई संदेह नही । ऐसी दशा मे प्रगतिवाद के क्षेत्र में हमारे कवियो की जो नगण्य-सी देन रही, उसके लिए हम उसके आलोचकों को प्रारंभ से ही उत्तरदायी और दोषी ठहराते आए है और अब भी वैसा समझते है ।

निराला जी तो प्रगतिवाद के आदोलन से पूर्व ही प्रगतिशील थे । उनका 'बादल राग' इस बात का प्रमाण है । समाज, राजनीति और धर्म के क्षेत्र मे क्रांतिकारी भावनाओं का परिचय देने के कारण वे विद्रोही कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं । विधवा, भिक्षुक और मजदूरनी के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर उन्होने अपने हृदय की अगाध कोमलता का परिचय दिया । गलित, जर्जर और जीर्ण-शीर्ण के पक्ष मे वे कभी नहीं रहे । रुढियो पर उन्होंने डटकर प्रहार किया । छोटे लोगों के दुःख-दर्द को जैसा उन्होने समझा, वैसा आधुनिक युग मे अन्य किसी कवि ने नही । 'कुकुरमुत्ता' उनके दृष्टिकोण की परिचायक एक सशक्त कृति

है। यहां गुलाव और कुकुरमुत्ता स्पष्टतया पूंजीपति और सर्वहारा के प्रतीक हैं। इसमे क्रांति की भावना पैने व्यंग्य का सहारा पाकर बड़ी प्रभावशाली वन पड़ी है। आधुनिक-काव्य मे कुकुरमुत्ता भारतीय प्रगतिशीलता की प्रतिनिधि और श्रेष्ठ कृति कही जा सकती है।

प्रयोगवाद

जिस काव्य मे भाव और कला-सवंधी प्रयोग सचेष्ट रूप से किए जायें, उसे प्रयोगवादी काव्य कहते हैं। इस मत के समर्थक ऐसा विश्वास करते हैं कि उनसे पूर्व के समस्त काव्य में कथ्य और टेकनीक संवंधी सभी वातें पुरानी पड़ गयी हैं; अतः काव्य के उत्कर्ष के लिए यह आवश्यक है कि उसका विकास नयी दिशा मे हो। प्रयोगवादी काव्य का इतिहास एक प्रकार से 'तार-सप्तक' के प्रकाशन (सन् १९४३) के साथ प्रारंभ होता है। लेकिन उस संकलन मे कुछ ऐसे कवि भी सम्मिलित हो गए हैं जो अपने विचारो मे साम्यवादी रहे हैं जैसे डा० रामविलास शर्मा, नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल एवं गजानन माधव मुक्तिवोध। इनकी रचनाओ को प्रगतिवाद के अंतर्गत ही समझना चाहिए। फिर भी इसमे कोई संदेह नही कि कविता की एक नयी क्षीण धारा इस तिथि से पुरानी पृथुल धारा से पृथक होकर धीरे-धीरे वहती हैं। इस नये आंदोलन का नेतृत्व श्री सच्चिदानंद अज्ञेय ने किया। तार सप्तक की परंपरा में उन्होंने दूसरा सप्तक (१९५१) और तीसरा सप्तक (१९५९, का संपादन कर इस प्रवृत्ति को वल प्रदान किया। सव कुछ होने पर अज्ञेय जी प्रयोग को एक साधन ही मानते हैं।

इधर बिहार मे प्रयोग को वाद के रूप मे स्वीकार करने वाले तीन कवि—नलिनविलोचन शर्मा, केसरीकुमार और नरेश—अपनी खंजड़ी अलग बजाते रहे। ये लोग प्रयोग को साध्य मानते है। अपने नाम के प्रथम अक्षर लेकर उन्होने अपने दल को 'नकेन' नाम से प्रसिद्ध किया

और स्वयं 'नकेनवादी' कहलाने लगे। केसरीकुमार का कहना है—

"हिंदी कविता मे प्रयोगवाद का वास्तविक आरंभ १६३६-३८ ई० मे लिखी गई नलिनविलोचन शर्मा की कविताओ से होता है। प्रगति या प्रयोग शब्द के प्रति मोह की आवृत्ति न हो और नए काव्य के सम्पूर्ण दायित्व को स्वीकार किया जाय इसलिए इन कवियों ने अपने वाद के लिए 'प्रपद्यवाद' का नाम और संकेत के लिए 'न के न' का अभिधेय स्वीकार किया और इस प्रकार हिंदी कविता की वह धारा आगे बढी जो निःसंकोच होकर प्रयोग को ही अपना साध्य मानती है।"

इन तीनों कवियों की कविताओं का एक सम्मिलित संकलन सन् १९५६ मे 'नकेन' नाम से प्रकाशित हुआ।

इन लोगों के बहुत-से विलक्षण दावे हैं जैसे प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्तियों की परिपाटियो को भी निष्प्राण मानता है। कविता मे प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छंद का वह स्वयं निर्माता है। इसी प्रकार कविता एक ओर भावों, विचारों अथवा दर्शनो से, दूसरी ओर छंदों, पिंगल, अलंकार आदि से नही लिखी जाती, वह शब्दों से लिखी जाती है... आदि। इस आंदोलन का नयी कविता पर कोई शुभ प्रभाव नही पड़ा है। यह प्रभाव बहुत सीमित भी है। अधिकतर ये तीनो ही अपनी और एक दूसरे की कविता की प्रशंसा और व्याख्या करते रहे हैं। प्रपद्यवाद को कोई भी गंभीरता से स्वीकार नही करता।

प्रगतिवादी कविता पर जैसे मार्क्स का प्रभाव है, वैसे ही प्रयोगवादी कविता पर फ्रायड का। फ्रायड का प्रभाव कहने का तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ तक काव्य के वस्तु-तत्त्व का संबंध है, कवि मन की गहराइयों मे उतरता है। अंतर की ये अनुभूतियाँ निश्चित रूप से सदैव ही स्पष्ट, सरल और रसमयी नहीं होती, वे धुँधली, उलझी हुई और शुष्क भी होती है, अतः आज के कवि का यह आग्रह कि मन मे जो कुछ जैसे उठता है, बुद्धि मे जो कुछ जैसे आता है, उसे वैसे ही व्यक्त

कर देना चाहिए, उसे पिछले युगो के कवि से पृथक् करता है। ऐसी दशा में पुराने अर्थों में साधारणीकरण की आशा करना व्यर्थ है। प्रयोगवादी कविता के दुर्बोध होने का मुख्य कारण यह है कि कवि सामान्य भाव-बोध के स्तर से संतुष्ट न होकर अवचेतन और अचेतन की गहरी घाटियो मे उतरता हैं और वहाँ से अपने उलझे सवेदनों के तारों के जाल को लाकर पाठक के सामने पटक देता है। ऐसी दशा में इन रचनाओ के पीछे स्पष्ट दिखाई देने वाली व्यवस्था चाहे न हो; पर वे किसी मनोवैज्ञानिक सत्य से भी रहित हैं, ऐसा कोई नही कह सकता।

प्रयोगवादी-काव्य मे अवचेतन मे दवी वहुत-सी भावनाएँ अभि-व्यक्ति के स्तर पर आकर खंडित हो गयी हैं। प्रयोगवादी कवि किसी मूड के अंतर्गत असम्वद्ध संवेदनो को ज्यों का त्यो रखने के पक्ष मे है। जहाँ तक विषयो का संवंध है, इन कवियों ने वँधी-घिसी भावनाओं के पति खुला विद्रोह किया है। कविता मे पहले रम्य और भयंकर का पृथक्-पृथक् वर्णन होता था, आगे चलकर उपेक्षित वस्तुएँ भी समेट ली गयी, पर इवर मुन्दर और असुन्दर, संगत और असंगत का मेल होने लगा है। इससे पाठक की कोमल चेतना को एक झटका-सा लगता है। पर अनुभूति को ईमानदारी से व्यक्त करने और उसे वैज्ञानिक तथा यथार्थवादी वनाने के प्रयत्न मे ऐसा होना वहुत स्वाभाविक है।

प्रयोगवादी कविता मे भावना की अपेक्षा वौद्धिकता का प्राधान्य है। कही-कही तो यह काव्य आवश्यकता में अधिक वौद्धिक हो उठा है। प्रकृति और समाज, प्रेम और धर्म, राजनीति और अंतर्राष्ट्रीय स्थिति से अपने विषयो का चयन करते हुए ये कवि केवल भाव पर इतनी दृष्टि नही रखते, जितनी सम्पूर्ण अनुभव पर और स्पष्ट है कि अनुभव की पूर्ण परिधि मे रम्य-भयंकर, प्रीतिकर-अप्रीतिकर, सुवोध-दुर्बोध सभी कुछ सम्मिलित रहता है। इसी से प्रयोगवादी कविता कही-

कही गद्य और बातचीत के स्तर पर उतर आयी है। जहाँ तक युग-चेतना का संबंध है, इसमें हमारे युग की हताश-भावना, अनास्था, संदेह और घुटन पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हैं।

यह कविता एक ओर छायावादी काव्य के विरोध मे खड़ी हुई, दूसरी ओर प्रगतिवादी काव्य के विरोध मे। प्रगतिवादी काव्य जहाँ जनवादी और समाजपरक है, वहाँ यह व्यक्तिवादी और व्यक्तिपरक। इतना होने पर भी प्रयोगवादी असामाजिक प्राणी है, ऐसा उसका बडे से बड़ा विरोधी नही कह सकता। पर सामाजिकता का ग्रहण वह उस रूप मे कभी नही कर सकेगा, जिस रूप में साम्यवादी कवि करता है। छायावाद ने एक दिन रीतिकालीन बाह्य वर्णनों को हटाकर आंतरिक सूक्ष्मता की प्रतिष्ठा की थी। उससे उकताकर प्रगतिवाद ने ठोस जीवन की स्थूलता सामने रखी। इतने मे प्रयोगवाद आया और उसने फिर भावनाओ की सूक्ष्मता को जन्म दिया। छायावादी काव्य का विरोध करने मे प्रयोगवाद ने यहाँ तक तो प्रगतिवाद का साथ दिया कि वह उसके अलौकिक पक्ष, कल्पना वैभव, कोमल प्रांजल मधुर शब्दावली एवं संस्कृत-गर्भित समास-शैली को स्वीकार नही करता, पर सूक्ष्मता की ओर झुकने मे यह छायावाद का छोटा भाई है। यह दूसरी बात है कि दोनो स्थानो पर सूक्ष्मता भिन्न कोटि की है। जहाँ तक प्रगतिवाद की तुलना मे प्रयोगवाद की शक्ति की बात उठती है, वहाँ एक कमी अभी खटकती है और वह यह कि जैसे प्रगतिवाद के पास अपना एक जीवन-दर्शन है, वैसे प्रयोगवाद के पास नही।

प्रयोगवादी कवियो में केवल अज्ञेय जी ही एक ऐसे कवि हैं जो आधुनिक-काल के अन्य महान कवियों के साथ अगली पंक्ति मे खड़े होने की क्षमता रखते है। खेद की बात है कि काव्य को नयी दिशा की ओर मोड़ने में जो महत्त्वपूर्ण काम उन्होंने किया है, उसका उचित मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है; उनका विरोध करने वाले बहुत हैं,

मूक प्रशंसकों की भी कमी नही, पर उनकी देन का निष्पक्ष और विवेक-पूर्ण विवेचन करने वाला समीक्षक कही नहीं दिखाई देता। न्याय की वात तो यह है कि जिस युग को हम प्रयोगवाद के नाम से पुकारते है, उसे 'अज्ञेय-युग' कहना चाहिए। ऐसा ही अन्याय हिंदी के एक और कवि के प्रति हुआ है। वे हैं श्री मैथिलीशरण गुप्त। छायावाद के आंदोलन के कारण कुछ आलोचको ने उन्हे द्विवेदी-युग का पुनरुत्थान-वादी कवि कहकर उनके महत्त्व को ढकने का प्रयत्न किया है; लेकिन जहाँ तक साहित्यिक देन का संबंध है गुप्त जी द्विवेदी जी से कही वडे साहित्य-कार हैं। वास्तव मे वीसवी शताव्दी के प्रारंभिक कई दशकों की सबसे वड़ी साहित्यिक प्रतिभा उन्ही के रूप मे मूर्तिमती हुई। इस तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए द्विवेदी-युग का भी नया नामकरण होना चाहिए। इस युग को 'गुप्त-युग' कहना अधिक समीचीन होगा।

प्रयोगवाद की कटु आलोचनाओ से आतंकित हो, इसके कुछ समर्थकों ने प्रयोगवादी कविता को अव 'नयी कविता' कहना प्रारंभ कर दिया है। लेकिन दोनों मे अंतर क्या है, यह स्पष्ट लक्षित नही होता। अतः ऐसा समझना चाहिये कि नयी कविता प्रयोगवाद का ही दूसरा नाम है। दोनो के सिद्धांत एक हैं, उनकी प्रवृत्तियाँ एक है, कवि एक है। इस वाद के उल्लेखनीय कवियों मे अज्ञेय के अतरिक्त शमशेर-वहादुर सिंह, लक्ष्मीकात वर्मा, कुँवरनारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, गिरिजाकुमार माथुर, केदारनाथसिंह और रघुवीर सहाय को समझना चाहिये।

आधुनिक युग के सभी काव्य-आंदोलन निराला के जीवन-काल मे उठे और विलीन हो गए। इनमें छायावाद की श्रेष्ठतम देन निराला की देन के विना अधूरी है। प्रगतिवाद को उनके व्यक्तित्व से वहुत वल मिला। प्रयोगवाद ने आज जिस मुक्त छंद को स्वीकार किया है, वह हिंदी-साहित्य को निराला की देन है। लेकिन जैसे छायावाद और

प्रगतिवाद के आंदोलनों मे निराला ने सीधे भाग लिया, वैसे प्रयोगवाद के आंदोलन मे नही। सरल भाषा में गजलों के प्रयोग को हम चाहें तो उनका नया प्रयोग कह सकते है। स्वतंत्रता के उपरांत कुछ ऐसा हुआ कि उनका झुकाव प्रार्थना-गीतो की ओर हो गया; अतः वे इस आदोलन से दूर रहे। दूसरे शब्दों मे यह कह सकते है कि अपने अंतिम दिनों में वे अवचेतन के अँधेरे मे न उतर कर आलोक के सोपानो पर आरोहण करते हुये दिव्य ज्योति मे लीन हो गये।

कल्पना की दिशाएं

निराला के काव्य में बहुत कुछ ऐसा है जो साधारण की कोटि मे आता है। लेकिन यह उस काल की बात है जब उनकी साहित्यिक मान्यताएँ बदल गयी थी और जब वे शारीरिक दृष्टि से श्रांत तथा मानसिक दृष्टि से क्षुब्ध रहे। जीवन के अंतिम वर्ष उनके लिये ही अभिशाप बनकर नही आए, काव्य के लिये भी वे दुर्भाग्य के वर्ष थे। अतः निराला की शक्ति की परीक्षा उनके उत्तरकालीन काव्य से नहीं, बल्कि उन कृतियो के आधार पर होगी जब उनकी प्रतिभा विकास के सोपानों पर निरंतर आरोहण कर रही थी। यह काल १६१६ से १६४२ तक विस्तृत है। इन पच्चीस वर्षों में उन्होने अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास तथा कुकुरमुत्ता जैसे काव्य-ग्रंथ दिये। इन ग्रंथों मे सौ से ऊपर ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें प्रथम श्रेणी की कहा जा सकता है। स्वतंत्रता के उपरांत जब निराला को और अधिक उत्साह से लिखना चाहिये था, न जाने ऐसा क्या हुआ कि वे बुझ-से गए। निराला ही नही, सन् १६४७ के उपरांत पंत जी के काव्य मे भी विकास का कोई लक्षण नहीं पाया जाता। महादेवी जी तो सन् १६४२ से ही शांत-सी है। देश की मुक्ति काव्य के लिये वरदान बनकर क्यों नही आई, इसके कारणों की खोज किसी दिन हमारे समीक्षकों को करनी होगी।

फिर भी काव्य के मंच पर पचीस वर्ष तक छाये रहना कोई साधारण बात नही है। निराला की इस सफलता के मूल मे कई बातें हैं। पहली बात है उनकी प्रतिभा, जिसका परिचय उन्होने अपनी लंबी रचनाओ और मुक्त छद के प्रयोग द्वारा दिया। दूसरी बात है काव्य की श्रेष्ठतम मान्यताओ मे उनकी आस्था। 'जुही की कली' से 'तुलसीदास' के रचना-काल तक उन्होने इन मान्यताओ का पालन किया। अपने विषयो के चयन मे वे अत्यत सतर्क रहे और अपनी अभिव्यक्ति के स्तर को उन्होने कही गिरने नही दिया। तीसरे, इस अवधि मे जिसे वास्तव मे साधना कहते है, वह उन्होने की। प्रतिभा होते हुए, प्रेरणा मिलते हुए और भाषा, अलकार, छंद पर असाधारण अधिकार रखते हुए भी, किसी रचना को प्रकाश मे लाने से पूर्व उन्होने उसका बार-बार शृंगार किया और जब उन्हे पूरा सतोष हो गया, तभी उसके अंतिम रूप को प्रकाशन के लिये उन्होने स्वीकार किया। यही कारण है कि उनके काव्य-वन मे खिले फूलो मे और ही रंग है, और ही गध, और ही रस।

अपनी रुचि और बौद्धिक स्तर के अनुसार निराला की बहुत-सी रचनाएँ उनके पाठको को भिन्न-भिन्न कारणो से प्रिय हैं; लेकिन कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जो सभी को समान रूप से प्रिय लगती हैं। उनमे से कुछ चुनी हुई कविताओ के वैशिष्ट्य का विश्लेषण सक्षेप मे हम यहाँ करेंगे।

संध्या सुन्दरी

सबसे पहले उनकी 'संध्या सुंदरी' रचना को लीजिए। इसे लोग उनके मुक्त छंद के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्राय: उद्धृत करते हैं; पर इसके द्वारा जो सबसे महत्त्वपूर्ण काम उन्होंने किया, वह यह कि शताब्दियो से प्रचलित प्रकृति के क्षेत्र मे क्रांति उपस्थित कर दी। प्राचीन काल मे प्रकृति कही तिरस्कृत रही, कही उसका उपयोग आध्या-

त्मिक भावों को अभिव्यक्ति के लिये हुआ, कहीं उसकी आड़ में उपदेश दिये गये, कही उसे उद्दीपन के रूप मे व्यवहृत किया गया और कहीं उसका सार लेकर नारी का शृंगार भी हुआ; पर जिस स्थान की वह अधिकारिणी थी, वह उसे नही मिला। इस रचना मे प्रकृति को उसका वास्तविक महत्व प्रदान किया गया है। मनुष्य के समान ही प्रकृति को चेतन मानकर यहाँ उसकी स्वतंत्र सत्ता का उद्घोष हुआ है। प्रकृति मे चेतना के आरोप के कारण यह रचना काव्य मे छायावाद की प्रतिष्ठा करती है।

संध्या का चित्र यहाँ पूरा उतरा है। रूप-वर्णन के अंतर्गत कवि ने श्याम तन के उल्लेख के साथ उसके मधुर अधरों और घुंघराले काले बालों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उसकी कमनीयता और आकर्षण-शक्ति का वर्णन करते हुए वह उसे कली जैसा कोमल और परी जैसा सुंदर बतलाता है। उसकी सजीवता के प्रमाण मे उसने उसे आकाश से उतरते, नीरवता के कंधे पर हाथ रखकर चलते और सहसा अंतर्धान होते दिखाया है। उसके स्वभाव की स्नेहशीलता का उल्लेख करते हुए कवि ने दिखलाया है कि वह श्रांत जग को मादकता की मदिरा पिलाने के लिये ही आती है। इस प्रकार संध्या के आकार, रूप और स्वभाव के अंकन द्वारा यह चित्र बड़ा सजीव हो उठा है। टेकनीक की दृष्टि से इसमे मानवीकरण, मूर्त्त-विधान और चित्रमयता विद्यमान हैं। ये तीनों ही छायावादी-कला की निजी विशेषताएँ हैं।

जुही की कली

प्राकृतिक वस्तुओ के बाह्य आकार तक सीमित न रह कर उसके आंतरिक सौंदर्य को पहचानने का काम निराला जी ने 'जुही की कली' में किया। इसमें प्रकृति के बीच चलने वाले प्रेम-व्यापार का चित्रण बहुत सहज और स्वाभाविक रूप मे हुआ है। यहाँ जुही है प्रेमिका,

मलियानिल प्रेमी। दोनों मिलकर दाम्पत्य-सुख का उपभोग पूरी स्वच्छंदता के साथ करते हैं। इसमे वासना का चित्रण इतने परिष्कृत रूप में हुआ है कि पाठक के अवचेतन मे दवी काम की ग्रंथि धीरे-धीरे खुलकर उसे अपूर्व मानसिक तृप्ति प्रदान करती है। प्रकृति के क्षेत्र मे काम-कला का यह पहला पाठ है।

हिंदी का पाठक रीतिकालीन स्थूल शृंगार की निंदा करता चला आ रहा था; दूसरी ओर, वह द्विवेदी-युग की शुष्क नैतिकता से भी ऊब उठा था; अतः निराला जी ने एक मध्यम-मार्ग की खोज की। उन्होंने मनुष्य के हृदय की उद्दाम वासना को न तो खुले रूप मे चित्रित किया और न राधा-माधव के अनुराग की आड़ मे। उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने प्रकृति के तत्वों के पारस्परिक आकर्षण और प्रेम के चित्रण के बहाने की। इससे किसी प्रकार के आक्षेप को अवसर दिये विना एक उद्दाम लौकिक प्रवृत्ति का चित्रण हो गया और जीवन के वृंत पर काम की कली खिलकर काव्य के वातावरण को सुरभित कर गयी, जिससे मन का कोना-कोना महक उठा। वासना की वाढ़ को शायद ही कभी किसी ने संयम के ऐसे तटो से बाँधकर प्रवाहित किया हो। जैसे हिम पिघलकर जल वन जाता है, वैसे ही स्थूल भोग यहाँ आनंद की तरंगों में परिवर्तित हो गया है।

कार्य की गति यहाँ समास और विराम-चिह्नों के सहारे कही शिथिल है, कही मुक्त छद के प्रवाह के सहारे क्षिप्र। यथास्थान शारीरिक सुंदरता, भावो की तीव्रता तथा सुख से सोने, पलकें खोलने और संभोग-सुख मे लीन होने के चित्र ध्वन्यात्मक एव व्यंजक शव्दो के सहारे वडे रसात्मक और सुखद वन पड़े हैं। इस प्रकार 'जुही की कली' छायावादी प्रवृत्ति को एक चरण और आगे वढाती है। वह प्रकृति को चेतन ही नही मानती, उस चेतना के प्रवाह को अनुभूति के स्तर पर अभिव्यक्त होते दिखाती है।

वनबेला

'वनबेला' में प्रकृति मनुष्य की प्रेरक शक्ति के रूप के प्रस्तुत की गई है। मनुष्य और प्रकृति एक ही विराट जीवन के दो तत्त्व है। मनुष्य जब थकता है, रुकता है, निराश होकर टूटता है, तब प्रकृति ही उसे नया बल, नयी स्फूर्ति प्रदान करती है और नयी चेतना से सम्पन्न कर जीवन-संग्राम में लोहा लेने के लिए भेज देती है। मनुष्य और प्रकृति में यह अंतर है कि जहाँ मनुष्य जीवन के ताप से मुरझा जाता है, वहाँ वह उसके भीतर से निकलकर सिर उठाकर खडी होती है; जहाँ वह उच्छ्वास भरता है, वहाँ वह गंध की साँसें विकीर्ण करती है, जहाँ वह अपूर्णता का अनुभव करता है, वहाँ वह अपने मे पूर्ण प्रतीत होती है। मनुष्य जहाँ दुःख मे मलिन है, वहाँ प्रकृति अपने आनन्द से हास्यमयी; मनुष्य जहाँ अपने स्वार्थ मे क्षुद्र प्रतीत होता है, वहाँ प्रकृति अपने त्याग मे महान्। लेकिन यह रचना मनुष्य को छोटा सिद्ध करके अपमानित करने के लिए नही लिखी गयी है, वरन् उसे यह चेतना प्रदान करती है कि वह अपने स्वरूप को विस्मृत करने के कारण छोटा बन बैठा है, नही तो महानता की सारी संभावनाएं उसमे निहित है। उसे केवल अपने दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता है। महान् के सम्पर्क मे आकर व्यक्ति कैसे महान् बनता है, 'वनबेला' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। यह रचना मानव-अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करती हुई उसे जीवित रहने की कला सिखाती है।

तोड़ती पत्थर

'तोड़ती पत्थर' जीवन मे आर्थिक विषमता पर प्रकाश डालती है। हमारा समाज आज दो वर्गों मे विभाजित है। यहाँ एक है शोषक दूसरा शोषित, एक है स्वामी दूसरा नौकर, एक है साधनो का

उपभोग करने वाला दूसरा मात्र साधन। रचना मे मजदूरनी के कर्म का चित्रण इस रूप में किया गया है जिससे उसके जीवन की कठिनाइयों पर प्रकाश पड़ सके। वैभव की तुलना मे श्रम का यह जीवन और भी भयावह प्रतीत होता है। यह श्रम का सम्मान नही, दुरुपयोग है। इससे जहाँ हमे एक व्यक्ति की विवशता का आभास मिलता है, वहाँ दूसरे व्यक्ति की—यद्यपि उस व्यक्ति को हम देख नहीं पाते—हृदय-हीनता का। पूँजीवादी पाशविकता के नीचे मानवता आज जैसे कराह रही है।

भिक्षुक

'भिक्षुक' मनुष्य द्वारा मनुष्य के अपमान का चित्र है। भिखारी के कंकाल को आँखों के सामने लाना, समाज के कंकाल को दिखाना है। इस चित्र को देखकर पाठक का मन ग्लानि, क्षोभ और सहानुभूति से भर जाता है। वह जैसे कुछ करके शांति-लाभ करना चाहता है, यद्यपि यह नही जानता, कि करे तो क्या करे।

विधवा

'विधवा' में वेदना और संयम का एक मिला-जुला चित्र हम देख पाते हैं। शांत करुणा की यह पावन मूर्ति जैसे हमारे हृदय को द्रवित कर देती है।

ये तीनों रचनाएँ करुणा और उससे उत्पन्न सहानुभूति तक ही सीमित हैं। व्यक्ति के अत्याचार, समाज की अव्यवस्था और जीवन के दुःख ने कवि को इतना विचलित किया है कि वह सब कुछ भूलकर मानव के उद्धार मे लग गया है। इसका प्रमाण है उसकी अधिवास शीर्षक रचना।

अधिवास

मनुष्य चाहे तो वह जीव से ब्रह्म बन सकता है, सांत से अनन्त

हो सकता है; पर सृष्टि में दु:ख का अस्तित्व उसे इस दिशा में सोचने के लिये बाध्य करता है कि क्या मुक्ति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है ? क्या व्यक्ति, समाज, देश और संसार के प्रति उसका कोई कर्तव्य नहीं है ? जहाँ तक कवि का सम्बन्ध है, वह व्यक्ति की मुक्ति की तुलना मे सामूहिक-कल्याण की ओर झुक गया है। अध्यात्म के फल को अश्रुभरी आँखो पर निछावर करना, मानव-प्रेम को मोक्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण ठहराना है। इस प्रकार 'अधिवास' मानवतावाद का श्रेष्ठतम निदर्शन है।

प्रेयसी

जीवन में एक ऐसा काल आता है जब व्यक्ति अपने को आनन्द मे खो देता है। मन का यह प्रस्फुटन प्रकृति की प्रेरणा से अत्यन्त सहज भाव से होता है। यौवन का आगमन होते ही मन मे प्रेम करने की इच्छा जागरित होती है। निराला ने प्रेयसी मे ऐसी ही स्थिति का वर्णन किया है। स्त्री-पुरुष आकर्षित होकर एक दूसरे के निकट आते हैं। बीच मे बाधक बनती हैं अनेक प्रकार की मर्यादाएँ। और तब वे एक दूसरे से दूर हो जाते हैं। हृदय का आवेग उमड़ता है तो विवश-से होकर वे फिर मिलते हैं और इस बार ऐसे मिलते हैं कि मिलकर एक हो जाते हैं। तब जाति-धर्म के बन्धन से न जाने कहाँ बह जाते हैं। इस रचना मे निराला ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि प्रेम जीवन को सहज गति है जिसकी उपेक्षा कोई नहीं कर सकता। समाज के बन्धन तो कृत्रिम हैं जो एक दिन टूटकर रहते हैं।

'प्रेयसी' यद्यपि व्यक्तिगत प्रेम की रचना है; पर उसका विशेष महत्त्व जीवन के सामान्य सत्य को निरूपित करने मे है। वह यौवन, सौंदर्य, प्रेम एवं आनन्द को एक सत्र मे ग्रथित करती है। रचना का

महत्त्व इस बात में है कि वह इन तत्त्वों को उदात्त भूमिका में प्रस्फुटित करती है और इसी मे पाठक का मन स्थूल सुख की अपेक्षा सूक्ष्म आनन्द की अनुभूति मे डूब-डूब जाता है। रचना का अन्त होते-होते हमें आभासित होने लगता है कि सब कुछ होने पर मनुष्य का जीवन आनन्द का एक उच्छ्वास है।

नयनों के डोरे

'प्रेयसी' मे जैसे मानसिकता का प्राधान्य है, होली वाले गीत में वैसे ही स्थूलता का आधिक्य। भौतिक सुख का वर्णन ही इसमे मुख्य है। कही चुंबन की चर्चा है, कही आलिंगन की, कही उरोजो के मसलने की; कहीं चोली फटने का प्रसंग है, कही धीरे-धीरे वस्त्र उतारने का, कहीं रति-सुख में लीन होने का। पहली रचना जैसे मन में सूक्ष्म आनन्द की सृष्टि करती है, वैसे ही यह स्थूल प्रकंपन जगाती है। पर यह भी जीवन की एक स्थिति है। इससे बचकर जाया कहाँ जा सकता है ?

स्नेह निर्झर बह गया है

लौकिक सुख के महत्त्व का पता तो उस दिन चलता है जब सब कुछ नष्ट हो जाता है और विषाद के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जाता। सभी वृत्तियों के समान प्रेम की वृत्ति भी एक अस्थिर वृत्ति है। एक दिन आता है जब स्नेह का बड़े से बड़ा दान व्यर्थ हो जाता है। 'स्नेह निर्झर बह गया है' इस तथ्य को उद्घाटित करने वाली एक मार्मिक रचना है।

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?

निराशा की भूमि को पार कर कवि हताश-भावना का सामना करता है। इसका उल्लेख 'मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा' मे मिलता है।

यहाँ जीवन का इंद्रजाल विलीन हो गया है, साथी-संगियों से विश्वास उठ गया है और जहाँ तक अपनी शक्ति का सम्बन्ध है, वह पहले ही समाप्त हो चुकी है। यह ऐसी विषम स्थिति है जहाँ प्राणी चारों ओर से निराश होकर प्रार्थना के लिए हाथ उठता है।

वर दे वीणावादिनि

व्यक्तिगत सुख-दुःख, आशा-निराशा, जय-पराजय को भुलाकर निराला ने उच्चतर-भूमि मे भी अनेक बार प्रवेश किया है।

'गीतिका' के प्रथम गीत मे कवि वीणापाणि से शक्ति, स्वतंत्रता और ज्ञान के लिए प्रार्थना करता है। इस प्रार्थना का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ गया है कि कवि अपने लिए कुछ नही चाहता। वह नयी पीढ़ी के लिए नए स्वर माँगता है, देश के लिए स्वाधीनता की याचना करता है और संसार को ज्योतिर्मय देखने की कामना करता है। यह बहुत बड़ी प्रार्थना है जो सभी प्रकार के स्वार्थ से मुक्त हृदय की विशालता से ही फूट सकती है। निराला का हृदय ऐसा ही था।

देवी सरस्वती

'नये पत्ते' की 'देवी सरस्वती' एक लम्बी रचना है जिसमे परम्परा से प्रसिद्ध स्वरूप का अंकन करते हुए उसे चेतना के अजस्र स्रोत के रूप मे स्मरण किया गया है। निराला के दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि उन्होने उसे जनसाधारण के नित्य प्रति के जीवन को प्रभावित करने वाली शक्ति भी माना है। ऐसा न मानते तो इस कविता मे षट्ऋतुओ, त्योहारों और खेत-खलिहानो के विस्तृत वर्णन का कोई अर्थ न होता।

भारति जय विजय करे

इसमें इन्होंने मातृभूमि का गरिमामय चित्र अंकित किया है। इस छोटे से गीत में देश की शोभा, देश का वैभव, देश की विशालता, देश

का गौरव और देश की आत्मा सभी को समेट लिया गया है। गीत में वेद की ऋचाओं जैसी पवित्रता, गंभीरता और सुस्वरता है।

तुम और मैं

'तुम और मैं' मे निराला जी और भी ऊँचे उठे हैं। इसमें उन्होंने अपनी आत्मा का संबंध परम चेतन से स्थापित किया है। इस रचना को पढकर लगता है जैसे मनुष्य चेतना का पुंजीभूत रूप है और हमारा एक मात्र कर्त्तव्य ब्रह्म से चिरबंधन मे बंध जाना है। जीवन मे आनंद का स्रोत इसी अनुभूति से फूटता है।

महगू महगा रहा

निराला ने बहुत-सी ऐसी रचनाएं लिखीं जिनसे उनकी राजनीतिक चेतना का पता चलता है। वे कोरी कल्पना मे लीन रहने वाले कवि न थे। उनका व्यक्तित्व अत्यंत जागरूक था। 'नये पत्ते' मे अनेक ऐसी रचनाएँ हैं जिनसे पता चलता है कि देश की स्थिति का उन्हे पूरा-पूरा ज्ञान था। भोले किसानों के साथ ज़मीदारो और मजदूरों के साथ उद्योगपतियो के अत्याचार को वे ठीक से पहचानते थे और राजनीतिज्ञों की छल-कपट की नीति भी उनसे छिपी न थी। इन रचनाओ मे व्यंग्य के सहारे उन्होंने दंभ, अन्याय, भ्रष्टाचार और कुटिलता का भंडाफोड़ किया है। 'महगू महगा रहा' इस दिशा की एक प्रतिनिधि रचना कही जा सकती है। अंधकार की शक्तियाँ कही प्रवल न हो जायं, इसी से कवि ने ऐसी रचनाओ का अंत भविष्य की उज्ज्वल आशा के साथ किया है। जनता की शक्ति मे उनका अडिग विश्वास था, यह बात इस प्रकार की रचनाओ से स्पष्ट हो जाती है।

जागो फिर एक बार

प्राचीन काल मे वीर रस की जो रचनाएँ पायी जाती हैं, उनमें एक तो शब्दाडंबर वहुत है, दूसरे वे स्थिति विशेष की उपज मात्र हैं।

इसके विपरीत निराला किसी व्यक्ति अथवा जाति मे साहस का संचार ऊपर से नही करते, वे उसमे निहित शक्ति को जगाकर उसे गौरव की भावना से भर देते हैं। इस दिशा मे उनकी 'जागो फिर एक बार' रचना उल्लेखनीय है । इसी मे उन्होने समझाया है कि योग्यतमावशेष वाले सिद्धांत की घोषणा, जिसे हम पश्चिम की उपज समझते हैं, शताब्दियो पूर्व गीता मे हो चुकी है । यहीं तक नहीं, व्यक्ति को उसके ब्रह्म होने का आभास दिलाकर उन्होने उने बहुत ऊँचा उठा दिया है। व्यक्ति की शक्ति को शायद ही कभी किसी ने इस रूप मे जगाया हो ।

बादल राग

निराला के 'बादल राग' को हम विप्लव का घोषणा-पत्र कह सकते हैं। यह कार्य ओजपूर्ण शब्दो के चयन और उनमे निहित घोष के आधार पर सम्पन्न हुआ है । बाह्य दृष्टि से जहाँ इसमे बादलों के उठने, फैलने, गरजने और बरसने के दृश्य अंकित हैं, वहाँ बादल की आंतरिकता का परिचय देते हुए उसके कोमल और कठोर दोनो पक्षों को चित्रित किया गया है। इस रचना मे पूँजीपतियो के भय के साथ किसानों के हर्ष की चर्चा करना कवि नही भूला है। यहाँ भी निराला अंततः जनता के कवि के रूप में हमारी आँखों के सामने आते हैं।

पंचवटी प्रसंग

'पंचवटी प्रसंग' मे एक प्राचीन गाथा को कवि ने नवीन रूप में प्रस्तुत किया है । इसमे नगर और तपोवन, घर और बाहर, मोह और प्रेम, मुक्ति और भक्ति, स्वार्थ और सेवा, प्रलय और सृजन तथा द्वैत और अद्वैत का विवेचन पाया जाता है। इस प्रकार दार्शनिकता का पुट लिए हुए यह एक चिंतन-प्रधान रचना है। केवल सूर्पनखा के प्रवेश से कथानक में थोड़ी गति आती है। रचना के अंत मे दुष्ट शक्ति को दंडित करके छोड़ दिया है। इससे यह व्यंजित होता है कि अद्वैतवादी

भी व्यवहार-पक्ष मे लोक मे प्रचलित उस धर्म का पालन करते हैं जिससे समाज की मर्यादा और व्यवस्था बनी रहे।

भगवान बुद्ध के प्रति

कवि के कर्म की अंतिम परीक्षा इस बात से भी होती है कि जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है। यह दृष्टिकोण यद्यपि उसकी प्रत्येक रचना मे झलकता है; पर कुछ रचनाओ में तो वह विशेष रूप से उभर कर आता है। इस दृष्टि से 'भगवान वुद्धि के प्रति' इनकी एक विशिष्ट रचना कही जा सकती है।

'भगवान बुद्ध के प्रति' द्वितीय विश्व-युद्ध-काल मे लिखी गयी। इतना होने पर भी इसमे साधारण कवियों की भाँति किसी प्रकार की नारेबाजी नही पायी जाती। यह कोई अभियान-गीत नहीं हैं जिसमें यह बताया जाय कि दिल्ली या मास्को अभी कितनी दूर है। युद्ध को विषय बनाकर इसमे तो मनुष्य की मूल प्रवृत्ति पर ही विचार किया गया है। कवि मानव-सभ्यता के विकास पर प्रकाश डालते हुए इसमें भगवान बुद्ध की सांस्कृतिक दृष्टि की सराहना करता है। विज्ञान की उन्नति को वह संदेह की दृष्टि से देखता है, क्योकि लोलुप व्यक्तियों ने उसकी शक्ति को विनाश मे नियोजित कर रखा है। इस प्रकार मानव-जाति का जितना कल्याण अकेले तथागत की करुणा ने किया, उतना विज्ञान ने नही। स्पष्ट है कि कवि संघर्ष की तुलना मे सहयोग और विनाश की तुलना मे शांति के पक्ष मे है। उसकी दृष्टि भौतिकवादी नही, अध्यात्मवादी है। मानवता के विकास के लिए यह आवश्यक है कि किसी-भी देश के कवियो की आस्था जीवन के उच्चर मूल्यों मे हो। निराला ऐसे ही महामना व्यक्ति थे।

कुकुरमुत्ता

'कुकुरमुत्ता' एक व्यंग्यपरक प्रगतिशील रचना समझी जाती है

और वह है भी वैसी ही; पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वह मनुष्य के स्वभाव पर अधिक प्रकाश डालती है। गुलाब और कुकुरमुत्ता दो प्रकार के व्यक्तियो के प्रतिनिधि हैं। गुलाव के सबंध मे कवि की धारणा है कि वह वैभववानो का सम्पर्क चाहता हे और इन्ही के बल पर इतराता है। स्वयं वह उग नही सकता। उसे उगाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता हैं। वह अपने को रंगीन समझता हो तो समझ ले; पर वह रंगे हुए स्वभाव का है। इसके विपरीत कुकुरमुत्ता स्वयं उगकर बड़ा होता है और जनसाधारण को प्रिय है। वह उजला है, घुला हुआ है। किसी का रक्त चूंस कर नही बढ़ता वह। मौलिकता उसके रोम-रोम में परिव्याप्त है। इसका तात्पर्य यह है कि कवि की दृष्टि मे वह आदमी अच्छा आदमी नही है जिसकी रीढ की हड्डी दृढ़ नहीं है, जो एक ओर शोषक है और दूसरी ओर परजीवी, जो बाहर से कुछ है, भीतर से कुछ और सबसे ऊपर जो जनसाधारण से कटकर रहता है। उनकी दृष्टि मे वास्तविक मनुष्य वह है जो आत्म-निर्भर है, जिसका अंतर बाह्य एक है, जो जनता के साथ सिर उठाकर खड़े होने की क्षमता रखता है। कहने की आवश्यकता नही कि निराला ऐसे ही प्राण-वान व्यक्ति थे।

सरोज-स्मृति

'सरोज स्मृति' आंसुओ से भीगी एक गाथा है, लेकिन ये आंसू किसी साधारण व्यक्ति की आंखो से निकले आंसू नही हैं। ऐसी आंखो मे आंसू या तो आते नही; आते हैं तो फिर व्यर्थ नही जाते।

यह शोक-गाति करुणा का उदात्ततम चित्र है। मृत्यु जो इतनी भयावह है, उसे कवि ने दूसरी ही दृष्टि से देखा है। उसके द्वारा हम ज्योति के चरणों मे जीवन की अंजलि समर्पित करते है। यह दृष्टि मृत्यु के प्रति हमारा दृष्टिकोण ही बदल देती है। सरोज की मृत्यु का

मूल कारण कवि ने अपनी अक्षमता को माना है। सामान्य दृष्टि ऐसा ही मानेगी। लेकिन कवि की लौकिक असफलता के मूल मे जो कारण निहित है, वह हमारी दृष्टि म उसे बहुत ऊँचा उठा देता है। जीविका के लिए वह कभा छीना-झपटी नही कर सका और आज के युग मे बिना छीना-झपटी के काम चलता नही। अतः दूसरो के मुंह का कौर छीनने के स्थान पर उसने यह कही श्रेयस्कर समझा कि वह और उसके आश्रित प्रियजन अभाव का जीवन व्यतीत करते हुए अपन प्राणो की बलि दे दें। एक तीसरी दृष्टि साहित्य के प्रति है। वह भी ऐसी ही उदात्त है। प्रारंभ से ही विरोध और अवज्ञा को सहन करते हुए उसने अपनी साधना की लौ को निरंतर प्रज्ज्वलित रखा। इस प्रकार इस रचना मे जीवन, कर्म और मृत्यु सभी के प्रति एक प्रकार का उदात्त भाव पाया जाता है। यह उदात्तता जीवन और साहित्य दोनो का श्रेष्ठतम मूल्य है।

राम की शक्ति-पूजा

'राम की शक्ति-पूजा' मे राम-रावण का युद्ध सत्-असत् का युद्ध है। यह आवश्यक नही कि जय सदा सत् की ही हो। वह असत् की भी हो सकती है। सब कुछ शक्ति और साधन पर निर्भर करता है। यदि असत् शक्ति-सम्पन्न है तो वह विजयी होगा। इस यथार्थ से आँख मिलाने की शक्ति व्यक्ति मे होनी चाहिए।

रावण की जय का मूल कारण है महाशक्ति का उसके पक्ष मे होना। जामवंत का तर्क है कि बुद्धि की काट बुद्धि से होनी चाहिए। आराधना का उत्तर आराधना से देना चाहिए। राम यही करते है और अंत मे शक्ति से वरदान प्राप्त कर असत् को मिटा देते है।

कथानक को निराला जी ने कुछ ऐसा मोड दिया है कि थोड़ी देर को व्यक्ति की सारी आस्था हिलती-सी प्रतीत होती है। यह निराला

को अपने मन का संदेह है जिसे उन्होंने विस्तृत पट पर प्रस्तुत किया है। निराला का लौकिक जीवन बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। साहित्य के क्षेत्र मे भी उन्हे विरोध ही सहन करना पड़ा; अतः जीवन के विषम पथ पर उनकी आस्था कभी हिल उठी हो, तो आश्चर्य की बात नही। कविता मे एक स्थान पर कहा गया है—धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध। युद्ध की विभीषिका के बीच राम की कल्पना में सीता उदित होती हैं। नारी को सदेव इन्होने नर की प्रेरक शक्ति के रूप में देखा है। 'गीतिका' के समर्पण मे निराला ने अपनी स्वर्गीय पत्नी के संबन्ध मे लिखा ही है कि उन्होंने इनके जड़ हाथ को अपने चेतन हाथ से उठाकर काव्य मे दिव्य शृंगार की पूर्ति करायी। तुलसी-दास में गोस्वामी जी की प्रेरणा उनकी पत्नी ही हैं। यहाँ सीता भी राम के कर्म की प्रेरक शक्ति बनकर आती हैं। अतः अपने संघर्ष, अपनी निराशा, अपने सदेह, अपनी साधना और अपनी जय को ही कवि ने यहाँ विराट रूप प्रदान किया है, ऐसा लगता है। भारतीय कवि होने के कारण रचना का अत आशावादिता मे हुआ है. यह दूसरी बात है।

'राम की शक्ति-पूजा' जीवन के इस भयंकर यथार्थ पर प्रकाश डालती है कि संसार मे असत् की शक्ति प्रबल है और वह सत् को आच्छादित करने के लिए सभी प्रकार के साधनों से काम लेती है। विजय का निश्चय साधन करते हैं। अतः यदि असत् शक्तिशाली है, तो सत् को भी वैसा ही, बल्कि उससे कुछ अधिक शक्तिशाली होना चाहिए। केवल सत् का पक्ष लेने से न कभी कुछ हुआ है, न कभी होगा। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि जो व्यक्ति सत् के पक्ष में खडे होकर उसकी शक्ति को दृढ नहीं करता और ऐसा कुछ होने देता है जिससे असत् विजयी हो सके, तो वह अपने कर्तव्य का पालन ठीक से नहीं करता। यह रचना जीवन-संघर्ष की वास्तविकता पर प्रकाश डालती है, जीवन से पलायन का उपदेश नही देती।

तुलसीदास

जीवन के मूल्यो की अंतिम परीक्षा निराला ने 'तुलसीदास' में की। संसार असार होने पर भी सत् के साथ एक संवन्ध-सूत्र मे आवद्ध है; अतः सत् है। इसके किसी एक कोने मे व्यक्ति रहता है; अतः उसका सवसे वड़ा कर्त्तव्य अपने देश के प्रति है। जन्म-भूमि के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करके ही व्यक्ति शेष सृष्टि के साथ अपने धर्म का निर्वाह कर सकता है।

जीवन के श्रेष्ठतम मूल्य सांस्कृतिक मूल्य ही हो सकते हैं, इसी से तुलसीदास इस रचना मे भारतीय संस्कृति के उद्धारक के रूप मे आते हैं। इसमे एक नहीं, दो-दो संघर्ष चित्रित हैं। पहला संघर्ष गृह-परित्याग से पूर्व का है। इसके समाप्त होते ही दूसरा संघर्ष प्रारंभ होता है। पहला संघर्ष मानसिक है, दूसरा व्यावहारिक। इस दूसरे संघर्ष ने तुलसीदास से 'रामचरितमानस' का प्रणयन कराया। अपने अंतर्द्वन्द्व के विनाश पर तुलसीदास का हृदय आनंद से परिपूरित हो जाता है, दूसरे द्वन्द्व ने लोक मे आनंद का प्रसार किया। देखने की वात यह है कि गृहस्थ जीवन से विरक्ति की परिणति वैराग्य में न होकर उज्ज्वल कर्म मे होती है।

———

कला : उपलब्धि और सीमाएँ

बंगाल की भूमि

निराला जी तीस वर्ष की अवस्था तक बंगाल में रहे; अतः इनके काव्य पर उस प्रांत का प्रभाव कई रूपों मे पड़ा है। अनुवाद का बहुत-सा काम इन्होंने बंगला से हिन्दी मे किया। श्री रामकृष्ण परमहंस की वाणी और विवेकानंद के विचारो, बंकिमचन्द्र के ग्यारह उपन्यासों तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनेक कविताओ का अनुवाद इन्होने किया। दर्शन, उपन्यास और काव्य से संबंधित इन रचनाओ का प्रभाव निराला के जीवन और साहित्य दोनों पर पड़ा। प्रारंभिक रचनाओं में सेवा, अधिवास, प्रगल्भ प्रेम जैसे शीर्षक बँगला प्रभाव के सूचक हैं। यह प्रभाव उनके गद्य तक मे पाया जाता है। उदाहरण के लिए 'प्रीत' शब्द का इनका प्रयोग देखिए—

(१) मेरे कुछ परिवर्तन उन्हें (पं० वाचस्पति पाठक को) रुचिकर नही हुए, कुछ से वे बहुत प्रीत हैं।

(२) मेरे विद्वान् मित्र पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी इन गीतों से प्रीत होकर साधारण जनो के सुभीते के विचार से गीतों के क्लिष्ट शब्दों के अर्थ दे रहे हैं…

—गीतिका की भूमिका

रवीन्द्रनाथ के काव्य का दिग्दर्शन कराने के लिए निराला जी ने

सन् १९२५ मे ही 'रवीन्द्र कविता कानन' नाम से एक परिचयात्मक ग्रंथ लिखा था। इसमे उनकी जिन प्रमुख विशेषताओ, जैसे अशेष का आह्वान, दिव्य शृंगार, स्वदेश-प्रेम, संगीत-काव्य, दीनों के प्रति करुणा, कविता-कामिनी के प्रति आत्म-समर्पण आदि को उभार कर रखा है, वे निराला के काव्य की भी प्रमुख विशेषताएँ है।

विवेकानंद की जिन रचनाओ को कवि ने लिया है, उनमे कई तत्व पाए जाते हं। एक तत्त्व है जीव-प्रेम और स्वदेश-प्रेम का। प्रकृति के विराट रूप की कल्पना उन्होने कई स्थानो पर की हैं। इससे आगे बढकर अद्वैत का प्रतिपादन है। शक्ति की उपासना पर स्वामी जी की जो रचनाएँ है, उनमें कोमल और कठोर का सामंजस्य विद्यमान है। काली एक ओर संहारकारिणी है, दूसरी ओर मा भी। विवेकानंद की कविताओ के अनुवाद 'अनामिका', 'नये पत्ते' और 'गीत-गुंज' तीनों मे पाए जाते हैं।

'नये पत्ते' मे श्री रामकृष्ण परमहंस पर एक रचना है। कवि ने उन्हे 'ज्योतिमर्य' कहते हुए युगावतार माना है। श्री रामकृष्ण परम-हंस के प्रति निराला जी की आस्था वैसी ही थी जैसी इन दिनो पंत जी की श्री अरविंद के प्रति है।

'अनामिका' मे 'सेवा प्रारम्भ' नाम से जो काव्य-कथा दी है उसमें श्री रामकृष्णदेव के शिष्य अखंडानंद जी की नवद्वीप यात्रा का वर्णन है। स्वामी जी अकाल-पीड़ित व्यक्तियों के बीच पहुँचकर विचलित हो उठते हैं और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि नर की सेवा ही नारायण की उपासना है। कुछ ऐसा ही भाव हमारे कवि का भी था।

निराला जी की प्रेरणा के स्रोत अनेक थे। उनमे से एक बंगाल के वातावरण का प्रभाव भी है। रामकृष्ण-विवेकानंद--रवीन्द्र का सम्मिलित प्रभाव इनमे से मुख्य है। शृंगार और प्रेम की दिव्यता का भाव उनमे रवीन्द्रनाथ से ही आया है। नारी के अंग-प्रत्यगों

का मादक वर्णन करते हुए निराला जी जो अपने वर्णनों को बहुत ऊँचा उठा ले जाते हैं, यह गुण प्रारंभ मे उन्होंने रवि ठाकुर के काव्य से ही ग्रहण किया होगा। कोमल के साथ कठोर का समन्वय उन्हे विवेकानंद की रचनाओ से मिला। देशानुराग और अद्वैतभाव की पुष्टि भी उसी दिशा से समझनी चाहिए। निराला के जीवन और काव्य मे करुणा की भावना रामकृष्ण मिशन के माध्यम से आयी। उनके अनुपम त्याग के पीछे मिशन के संस्कार थे। कलाकारों के संस्कार यों समय के साथ भी विकसित होते है, पर वे प्रायः प्रारंभ मे ही निर्मित हो जाते हैं। जहाँ तक निराला के काव्य और जीवन का संबंध है, उन पर उनके बंगाल के प्रवास-काल का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। शृंगार की उदात्त भावना, राष्ट्र-प्रेम, असीम करुणा, सृष्टि मे अद्वैत तत्त्व की व्यापकता और सबसे ऊपर कोमल और कठोर का गठबंधन—इन सबके लिए एक ही स्रोत की ओर हमारी दृष्टि जाती है और वह है बंगाल की भूमि का प्रभाव।

कृतिवास का प्रभाव

'राम की शक्ति-पूजा' निराला की प्रसिद्धतम रचनाओं में से है। यह वह रचना है जिस पर उनकी ख्याति विशेष रूप से निर्भर करती है। रामकथा पर आधारित होते हुए भी वाल्मीक की रामायण और तुलसीदास के रामचरितमानस मे यह प्रसंग इस रूप मे नही पाया जाता; अतः लोग इसे निराला की मौलिक उद्भावना समझते रहे हैं। सन् १९३६ से लेकर, जब इसकी रचना हुई, उनकी मृत्यु (१९६१) तक किसी ने इसकी मौलिकता के संबंध मे संदेह नही प्रकट किया। संस्कृत के किसी विद्वान् ने एक बार कुछ ऐसा संकेत किया था कि इसके कथानक के लिए निराला को 'देवी भागवत' तथा 'शिव महिम्न स्तोत्र' से सहायता मिली होगी। लेकिन मुझे प्रारंभ से ही ऐसा संदेह

था कि इस रचना का मूल बंगला-काव्य में कहीं होना चाहिए। शक्ति-पूजा की भावना इस युग मे बंगालियो मे ही विशेष रूप से पायी जाती है, इसलिए यह संदेह और भी पुष्ट होता गया। फिर भी किसी प्रमाण के अभाव में कुछ कहना बैठे-बिठाये का एक झगड़ा मोल लेना था। संयोग की बात है कि इस सदेह के निवारण के लिए कहीं दूर नही जाना पड़ा। कृतिवास की बंगला रामायण को उलट-पलट कर देखा, तो पूरे विस्तार के साथ वहाँ यह प्रसंग मिल गया। कृतिवास ने राम-रावण-युद्ध की कथा पन्द्रह दीर्घ प्रसगो मे समाप्त की है। निराला की यह लम्बी रचना अपेक्षाकृत वहुत छोटी है। इन्ही शीर्षकों के अंतर्गत वे सब घटनाएँ आयी हैं जिनकी चर्चा 'राम की शक्ति-पूजा' मे पायी जाती है जैसे शक्ति का रावण के पक्ष में होना, राम का चिंता करना, शक्ति की उपासना के लिए राम को उपदेश और विभीषण द्वारा एक सौ आठ नील कमल मंगाने का परामर्श, देवीदह से हनुमान द्वारा नील कमलो का लाया जाना, परीक्षा के लिए शक्ति का एक कमल चुराना, राम का अपनी आंख अर्पित करने का सकल्प करना और अंत मे शक्ति का प्रकट होकर राम को वरदान देना। पहले इन शीर्षकों पर ध्यान दीजिए—

१—श्रीरामेर सहित रावणेर युद्धारंभ।

२—रावणेर अंबिकाके स्मरण।

३—रावणेर स्तवे अंबिकार आविर्भाव ओ' श्रीरामेर चिंता।

४—रावण वधेर निमित्त ब्रह्मार उपदेश।

५—श्रीरामेर दुर्गोत्सव।

६—नीलपद्म आनयनेर मंत्रणा।

७—देवीर उद्देशे श्रीरामचंद्रेर स्तव।

८—देवी कर्त्तृक एक पद्म हरण।

९—पुनर्वार श्रीरामचंद्र कर्त्तृक अम्बिकार स्तुति।

१०—देवीर प्रति श्रीरामेर स्तुति-वाक्य ।

११—देवीर निकटे श्रीरामेर वर-प्रार्थना ।

१२—रावण-वधेर जन्य श्रीरामेर प्रति देवीर आदेश ।

१३—रावणेर भगवती-त्यागेर जन्य हनुमान कर्त्तृक चंडी-अशुद्ध ।

१४—रावण-वध जन्य मृत्युवाण आनयन ।

१५—रावण-वध ।

और अब उन पंक्तियों को पढिए जिनमे पूजा के लिए नील कमलों से संबंधित वह मार्मिक घटना आई है जिसमे राजीव-नयन राम शक्ति की प्रसन्नता के लिए अपना नेत्र अर्पित करना चाहते हैं—

(१)

कातर हइया तवे कन विभीषण ।
एक कर्म कर प्रभू निस्तार कारण ।।
तूषिते चंडीरे एइ करह विधान ।
अष्टोत्तरशत नील पद्म कर दान ।।
शुनिया ताहार वाक्य रघुनाथ कन ।
कोथा पाव नीलपद्म मिता विभीषण ।।
विभीषण बले तबे हनुमान काछे ।
अवनीते देवीदहे नीलपद्म आछे ।।
रामचन्द्र प्रणमिया वीर हनूमान ।
देवीदह उद्देशेते करिल प्रयाण ।।

(२)

पुलकित चित्त विधान चरित
मूलमंत्र उच्चारणे ।
क्रमे नीलोत्पल सहस्रेक दल
संपे शंकरी चरणे ।

करिलेन छल बूझिते सकल
देवी हर-मनोहरा ।
हरिलेन आर एक पद्म तार
महेश्वरी परात्परा ।

(३)

भाविते-भाविते राम करिलेन मने ।
नीलकमलाक्ष मोरे वले सर्वजने ॥
जुगल नयन मोर फुल्ल नीलोत्पल ।
संकल्प करिव पूर्ण बूझिये सकल ॥
एक चक्षु दिव आमि देवीर चरणे ।

एत वल तूण हइते लइलेन वाण ।
उपाड़िते जान चक्षू करिते प्रदान ॥
चक्षू उपाड़िया राम वसिला साक्षाते ।
हेनकाले कात्यायनी धरिलेन हाते ॥

ऐसी दशा मे निराला कृत 'राम की शक्ति-पूजा' की वर्णन की दृष्टि से चाहे जितनी प्रशंसा की जाय, कथानक की दृष्टि से उसे मौलिक नही कहा जा सकता । निराला ने प्रसंगो मे कुछ हेर-फेर करके अपनी रचना को वहुत प्राणवान वना दिया है; पर मूल प्रेरणा के लिए वे कृतिवास के ऋणी हैं, इसमे संदेह करने का कोई कारण नही है ।

शैली के प्रयोग

प्रारंभ से ही निराला जी का ध्यान शैली के प्रयोगों की ओर अधिक रहा । 'परिमल' मे उन्होंने अपनी रचनाओं का विभाजन छंदों के आधार पर किया है—

(१) सममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएं (२) विषम-मात्रिक

सान्त्यानुप्रास कविताएँ और (२) स्वच्छंद छंद। 'गीतिका' संगीत-काव्य है। इसी कोटि के अन्तर्गत 'आराधना' और 'गीत-गुंज' को समझना चाहिये। 'वेला' के लिये उन्होने 'आवेदन' मे लिखा ही है, "प्रायः सभी तरह के गेय गीत इसमें हैं। वढकर नयी वात यह है कि अलग वहरों की गज़लें भी हैं जिनमे फ़ारसी के छंद-शास्त्र का निर्वाह किया गया है।" इस प्रकार मुक्त छंद और गेय काव्य दोनों का आग्रह उनकी रचनाओ मे पाया जाता है। 'तुलसीदास' निराला की एक विशिष्ट रचना है। इसे 'खंड काव्य' कह सकते हैं। इसमें उन्होंने एक प्रभावशाली और कथ्य के उपयुक्त छंद का प्रयोग किया है।

छंद के अतरिक्त उनका ध्यान भाषा की ओर भी वरावर रहता था। 'परिमल' से लेकर 'तुलसीदास' तक की भाषा एक प्रकार की है, 'कुकुरमुत्ता' से लेकर 'गीत-गुंज' की दूसरे प्रकार की। सन् १९१६ से १९३८ तक उन्होंने संस्कृतगर्भित भाषा का प्रयोग किया, सन १९४२ से १९६१ तक सरल मुहावरेदार भाषा का। यों अपवाद दोनों दिशाओं मे मिल जायँगे; पर वे अपवाद ही हैं। उनके वक्तव्यों पर ध्यान दें तो पता चलता है कि उत्तरकालीन कृतियों मे भाषा की सरलता पर उन्होने वरावर ज़ोर दिया है—

(१) युग के अनुकूल इसकी रूपरेखा है। पाठक आधुनिकता का आदर्श देखेंगे। लिखने वालो के लिये भी, भाषा और भावों के संस्कार से सुविधा करदी गई है। वे कविता के एक आधुनिक अंग की भाषा की लीक पकड़ सकेंगे।

—कुकुरमुत्ता

(२) 'अणिमा' मेरे इधर के पद्यो का संग्रह है। अधिकांश गीत हैं। कुछ गीत ऑल इण्डिया रेडियो दिल्ली और लखनऊ से गाये गये है। प्रायः सभी गीतो की भाषा सरल है। कुछ साहित्यिक मित्रो ने वाद के

गीतों की तारीफ़ की है। उनकी भाषा गद्य के अनुसार है। प्रांतीय भाषाओं में, खासकर उर्दू मे यह प्रकरण है और जोरों से चल रहा है।

—अणिमा

(३) 'नये पत्ते' इधर के पद्यों का संग्रह है। भाषा अधिकांश में बोलचालवाली। अधिक मनोरंजन और बोधन की निगाह रखी गई है कि पाठकों का श्रम सार्थक हो और ज्ञान बढ़े। वे अपनी भाषा की रूपरेखाएं देखें।

—नये पत्ते

(४) 'बेला' मेरे नये गीतों का संग्रह है। भाषा सरल तथा मुहावरेदार है। गद्य करने की आवश्यकता नहीं।

—बेला

निराला जी के प्रगीतों मे यों भावना का ही प्राधान्य है; पर प्रबन्ध की ओर थोड़ा झुकाव होने के कारण व्यक्तियों और घटनाओं की चर्चा अनिवार्य हो उठी है। ये घटनाएँ सत्य पर आधारित भी हैं और शुद्ध काल्पनिक भी—फ़ैंटेसी के ढंग की। ऐसी रचनाओं में सरोज-स्मृति, महाराज शिवाजी का पत्र, राम की शक्ति-पूजा, स्फटिक शिला, यमुना के प्रति, भगवान बुद्ध के प्रति, देवी सरस्वती, सहस्राब्दि, कैलाश मे शरत्, मास्को डायेलाग्स, कुकुरमुत्ता, खजोहरा, झींगुर डटकर बोला और महगू मँहगा रहा आदि का उल्लेख हम कर सकते हैं। इनमे कुछ पौराणिक घटनाओं पर आधारित है, कुछ ऐतिहासिक, कुछ आधुनिक और कुछ मन की शुद्ध उड़ान पर। घटनाएं हास्य-व्यंग्य के प्रसंगों में अधिक आयी हैं। हास्य-व्यंग्य किसी न किसी को लक्ष्य करके चलता है, इसी से उसमे घटनाओं और व्यक्तियों का सहारा लेना पड़ता है।

अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्षों मे निराला का झुकाव कला के प्रयोगो की ओर हो गया था; पर कुल मिलाकर उनके काव्य में कथ्य का ही प्राधान्य है। कला सम्बन्धी प्रयोग युग के प्रभाव के सूचक मात्र हैं; पर उनके माध्यम से जिन उदात्त भावों की सृष्टि हुई है, वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

मुक्त छंद

निराला का नाम पहले-पहल मुक्त छन्द के प्रयोग के सम्बन्ध में सुनायी पड़ा। उनकी प्रथम कविता 'जुही की कली' जिसका रचना-काल १६१६ वतलाया जाता है; इसी प्रयोग को लेकर चली। इस छंद को किसी ने 'रवर-छंद' कहा, किसी ने 'कैंचुआ-छन्द। रवर और कैंचुआ में खिचने-सिकुडने का गुण होता है। मुक्त छन्द में भी बाहरी दृष्टि से यही था—कोई पंक्ति वडी, कोई छोटी। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे परिहास करते हुए लिखा है, "सवमे अधिक विशेषता आपके पद्यों मे चरणों की स्वच्छन्द विषमता है। कोई चरण वहुत लंवा, कोई वहुत छोटा, कोई मझोला...।" इस नए प्रयोग के लिए उस समय निराला का कसकर विरोध हुआ। इससे अप्रत्यक्ष लाभ यह हुआ कि वे प्रसिद्ध हो गए। विरोध शक्ति का परिचायक होता है। दुर्वल व्यक्ति का कोई विरोध नही करता। परिणाम यह हुआ कि मुक्त छन्द काव्य मे चर्चा का विषय वन गया और निराला का नाम उससे सम्वद्ध हो गया।

इसमे कोई सन्देह नही कि हिन्दी मे स्वच्छन्द छन्द के पहले प्रयोक्ता निराला जी ही हैं; पर वे इसके आविष्कारक नही हैं। यह छन्द वहुत पहले से अँग्रेजी मे प्रचलित था। इसके आविष्कर्त्ता प्रसिद्ध अमरीकी कवि वाल्ट ह्विटमेन (Walt Whitman) है। इसके लिए अपने देश में उनका विरोध निराला से कही अधिक हुआ, यहाँ तक कि उनके

काव्य-संग्रह 'लीव्स ऑफ ग्रास (leaves of grass) को जब कोई प्रकाशक छापने को तैयार नहीं हुआ तो उसका प्रकाशन सन् १८५५ में उन्होंने स्वयं किया। धीरे-धीरे विरोध कम हुआ और लोगों को उनकी रचनाएँ गंभीर अर्थ और अंतर्दृष्टि से युक्त दिखाई देने लगी। ऐसा ही आदर आगे चलकर निराला जी को प्राप्त हुआ। वाल्ट ह्विटमेन के प्रति अपनी भावना व्यक्त करते हुए इज़रा पाउंड ने कहा है—

I make a pact with you Walt whitman—
I have detested you long enough.
I am old enough now to make friends.
It was you that broke the new wood,
Now it is a time for carving.
We have one sap and one root—
Let there be commerce between us.
—Ezra Pound

हिन्दी मे विरोध-काल मे भी एक बडे कवि ने दूसरे बडे कवि के प्रति घृणा शब्द का प्रयोग नहीं किया।

बँगला-साहित्य पर विदेशी प्रभावो मे एक प्रभाव वाल्ट ह्विटमेन के इस छंद का भी था। इस प्रभाव को कवियों मे रवीन्द्रनाथ, दार्शनिकों मे विवेकानंद और नाटककारो मे गिरीश घोष ने स्वीकार किया। गिरीश घोष के लिए तो स्वयं निराला जी ने लिखा है, "बँगला मे माइकेल मधुसूदन द्वारा अतुकांत कविता की सृष्टि हो जाने पर नाट्याचार्य गिरीशचंद्र ने अपने स्वच्छन्द छंद का नाटको मे ही प्रयोग किया है।" अतः यह स्पष्ट है कि अमरीकी कवि वाल्ट ह्विटमेन का प्रभाव बँगला के साहित्यकारों पर पड़ा, बंगला के साहित्यकारों का निराला जी पर। निराला अपने जन्म काल से लेकर इस छंद के रचना-काल तक बंगाल में थे ही और वैसे भी रवीन्द्रनाथ, विवेकानन्द और गिरीश घोष

के प्रबल प्रशंसक थे। विवेकानंद की अनेक रचनाओं का अनुवाद उन्होंने बँगला से हिन्दी मे किया है और रवि ठाकुर पर तो एक समीक्षा-ग्रन्थ ही लिखा है।

निराला ने मुक्त छंद का सम्बन्ध वेदों से स्थापित किया है। गायत्री मंत्र को वे आर्यों की स्वच्छंद प्रकृति का सबसे बड़ा परिचायक मानते हैं। मूल प्रवृति की खोज में हिन्दी का कोई कवि यदि वेदों तक दौड़ लगाता है, तो इसमें आपत्ति की कोई बात नहीं हैं। संभव है, इस संबंध में निराला जी बँगला से प्रभावित न होकर वेदो से प्रभावित रहे हो। इसमे संदेह करने की कोई बात नही है। वैसे लगता ऐसा है जैसे प्रारंभ मे निराला जी बँगला साहित्य से प्रभावित रहे हों और जब लोगो ने यह कहकर विरोध करना प्रारंभ किया हो कि यह तो विदेशी प्रभाव है, तब उन्होने खोज-बीन की हो और मुक्त छंद का मूल वेदों मे पा लिया हो। इतना होने पर भी वे इस छंद के आविष्कर्त्ता नहीं ठहरते। हिन्दी मे उन्हे इसके प्रथम प्रयोक्ता का ही गौरव दिया जा सकता है।

मुक्त छंद, पदों, गीतो, प्रगीतो और वर्ण-वृत्तो से तो भिन्न है ही; पर वह अपने ही क्षेत्र में कई प्रकार के ढाँचों से भिन्न होता है। अंत में तुक न मिलने मात्र से छंद स्वच्छंद नही हो जाता। 'परिमल' की भूमिका मे स्वयं निराला जी ने हिन्दी मे प्रचलित ऐसे छंदों के उदाहरण दिए हैं जिनके अंत मे तुकें नही मिलती। इनके प्रयोक्ताओ में मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय और जयशंकर प्रसाद के नाम उन्होंने लिए हैं। अन्त्यानुप्रासहीन होने पर भी इन छंदों में शब्दो, गणो और मात्राओ की समानता का ध्यान रखा गया है। इस प्रकार भिन्न तुकांत (Blank verse) मुक्त छंद (Free verse) नही है। मुक्त छंद के पीछे तो छंद का बन्धन होना ही नही चाहिए। पंक्तियो का छोटा-बड़ा होना भी मुक्त छंद का लक्षण नही है। विषम

चरण भी तुकांत हो सकते हैं जैसे पंत जी के 'उच्छ्वास' और 'आँसू' आदि मे। स्वयं निराला की प्रसिद्ध कृति 'कुकुरमुत्ता' भी स्वच्छंद छंद का उदाहरण नही है। उसके चरण विषम अवश्य है, पर उसमें भी तुकें मिलती चलती है जैसे—

> अबे सुन बे, गुलाब,
> भूल मत जो पायी खुशबू रंगों आब;
> ख़ून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
> डाल पर इतराता है कैपिटलिस्ट।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्वच्छंद छंद गणों, मात्राओं और शब्दों की समानता वाले अतुकांत छंदों से ही भिन्न नहीं होता, वह उन छोटे-बड़ों चरणों वाले छंदों से भी भिन्न होता है जिनके अंत में तुकें मिलती चलती है। स्वच्छंद छंद न तो छंद के वन्धन को स्वीकार करता है और न तुक के आग्रह को। वह केवल लय पर आधारित रहता है।

निराला जी ने अपने मुक्त छंद की पृष्ठभूमि में कवित्त की लय स्वीकार की है। कवित्त को उन्होंने हिन्दी का जातीय छंद घोषित किया है। श्री सुमित्रानंदन पंत इस बात को नहीं मानते। वे इसे परकीय समझते है। पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में कवित्त छंद पर जो आक्षेप किया था, उसका उत्तर निराला ने 'पंत और पल्लव' नामक निबन्ध में दिया है। दोनों महाकवियों का यह वाद-विवाद, सच पूछिए तो, कोई अर्थ नही रखता। आज यह समझना कठिन है कि 'छाया-वाद-युग' में ऐसी छोटी-छोटी बातों को इतना महत्व और विस्तार क्यों दे दिया जाता था। लय किसी भी प्रकार की हो सकती है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कवित्त की ही हो। उसके असंख्य रूप हो सकते हैं। प्रसन्नता की बात है कि निराला जी ने जिस पौधे को अपने हाथ से लगाया था, वह अब पल्लवित-पुष्पित हो गया है।

प्रयोगवादी काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम यह मुक्त छद ही है। निराला जी के उपरांत उसे अज्ञेय जी ने एक प्रकार से विकसित किया है, शमशेरबहादुरसिह ने दूसरे प्रकार से। यही तक नही, मुक्त छंद अब गद्य-गीत को पार कर गद्य के निकट आ गया है—एकदम बोलचाल के निकट। उसमे लय के साथ वार्तालाप की सहजता पायी जाती है।

निराला जी कवित्त की लय पर जो इतना जोर देते थे, उसका एक कारण है। रीति-काल मे कवित्त शृंगार और वीर दोनों रसों में अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर चुका है। इस सम्वन्ध मे देव और भूषण के नाम लिये जा सकते है। यह वात निराला जी के स्वभाव के वहुत अनुकूल पड़ती है। व्रजभाषा के एक ही कवि मे ओज और कोमलता का सयोग देखना हो तो मध्ययुग मे तुलसीदास और आधुनिक-काल मे 'रत्नाकर' के काव्य मे उसके दर्शन हो सकते हैं। इस कोमलता और ओज के लिए निराला की रचनाएँ 'जुही की कली' और 'महाराज शिवा जी का पत्र' प्रसिद्ध है ही।

इस प्रकार स्वच्छंद अथवा मुक्त छंद मे (१) चरण विषम रहते हैं (२) वह अतुकांत होता है और (३) उसका मुख्य आधार किसी प्रकार की लय है। उदाहरण के लिए—

(१) मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफ़ी है।
सुधाकर की कला में अंशु यदि वनकर रहूँ
तो अधिक आनन्द है
अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैशगंध
पीता रहूँ सुधा इंदु-सिन्धु से वरसती हुई
तो सुख मुझे अधिक होगा ?
इसमें संदेह नहीं,

आनंद बन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनंद पाना है।

—निराला

(२) जीवन अनंत है,
इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है ?
जीवन की सीमामयी प्रतिमा
कितनी मधुर है ?
कितनी मधुर भीख माँगते हैं सब ही :—
अपना दल अंचल पसारकर बन राजी
माँगती है जीवन का बिंदु-बिंदु, ओस-सा।
क्रंदन करता-सा जलधि भी
माँगता हे नित्य मानो जरठ भिखारी-सा
जीवन की धारा मीठी-मीठी सरिताओं से।

—प्रसाद

(३) सूरज, चाँद और मन
प्रकाश के टुकड़े हैं,
बहु रूप !
दर्पण के टुकड़ों मे
एक ही छवि है,
अपनी छवि।

—पन्त

(४) किरण जब मुझ पर झरी
मैने कहा :
मैं व्रज-कठोर हूँ—
पत्थर सनातन।
किरण बोली :

भला ? ऐसा !
तुम्हीं को तो खोजती थी मैं :
तुम्हीं से मंदिर गढ़ूँगी
तुम्हारे अन्त:करण से
तेज की प्रतिमा उकेरूँगी ।

—अज्ञेय

(५) जो नहीं है
जैसे कि सुरुचि
उसका ग़म क्या ?
वह नहीं है ।
किससे लड़ना !

—शमशेरबहादुरसिंह

हज़ार वर्ष से भी अधिक से हिन्दी मे छंदबद्ध तुकात कविता होती आयी थी—दोहा-चौपाई मे, कवित्त-सवैयो मे, पदो और कुंडलियों मे—अतः जिस समय निराला ने स्वच्छंद छंद का प्रयोग किया, उस समय काव्य के प्रेमियों मे एक सनसनी-सी फैल गयी। निश्चित रूप से छंद के क्षेत्र मे यह एक क्रांतिकारी चरण था। छंद-शास्त्र मे श्री।ह्री जैसे एक अक्षर के छंद से लेकर बत्तीस और उससे भी अधिक अक्षरों के जैसे—कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि श्याम घन-मंडल में दामिनी की धारा है—सैकड़ों छंद पाए जाते हैं। इन ढाँचो को तोड़कर एक नयी लीक डालना साहस का काम था। इसके लिए उन्हे बुरा-भला भी कहा गया और उनका विरोध भी हुआ।

इतना होने पर भी निराला मुक्त छंद के बहुत बड़े समर्थक नही लगते। यह बात सुनने मे ही कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होती है।

निराला की काव्य-कृतियो पर यदि दृष्टि डाली जाय, तो उनका झुकाव छंद और संगीत की ओर अधिक लगता है। 'तुलसीदास' एक

छंद-बद्ध रचना है। 'गीतिका' की सृष्टि तो काव्य और संगीत के समन्वय पर बल देने के लिए ही हुई। 'बेला' मे गीत ही नही, ग़ज़लों के प्रयोग भी हैं। 'अर्चना,' 'आराधना' और 'गीत-गुज' में गेय तत्त्व की प्रधानता है। 'कुकुरमुत्ता' का छंद आदर्श मुक्त-काव्य के अंतर्गत नही आता, क्योकि उसमे तुकें मिलती चलती हैं। निराला जी के अनुसार उसे 'विषम मात्रिक सान्त्यानुप्रास काव्य' कह सकते है। अब केवल 'परिमल', 'अनामिका' और 'नये पत्ते' की कुछ रचनाएं बचती है। निराला जी ने मुक्त छंद के लिए इतने कडे नियम रख दिये थे कि उनका पालन वे स्वयं नही कर सकते थे। 'जूही की कली' को उन्होंने मुक्त छंद के अंतर्गत लिया है और उनके समर्थक भी ऐसा ही कहते चले आए है; लेकिन उस रचना मे ऐसी पक्तियाँ भी हैं—

> आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
> आई याद चांदनी की धुली हुई आधी रात,
> आई याद कांता की कंपित कमनीय गात...

अब ये बात, रात, गात भी तुके ही हैं और कवि के अनुसार इन्हे स्वच्छंद छद से दूर रहना चाहिए। लेकिन हृदय जब रस से भरा हुआ होता है तो नियम का ध्यान किसे रहता है ? नियम इसलिये भी टूट जाते थे कि निराला जी स्वयं सगीत के बड़े प्रेमी थे। जीवन के प्रारंभ मे उनका काव्यादर्श चाहे कुछ भी रहा हो; लेकिन 'गीतिका' के रचनाकाल से उनका झुकाव मुक्त छंद की अपेक्षा गेय काव्य की ओर अधिक हो गया था। इसमें कुछ तो अपने हृदय का योग था, कुछ तुलसी, सूर, मीरा के पद-काव्य की प्रेरणा और साथ ही रवीन्द्र-संगीत की प्रतिस्पर्धा भी काम कर रही थी। रवीन्द्रनाथ के 'गीत वितान' की भांति ही वे 'गीत गुंज' के गीत रखना चाहते थे। हो सकता है 'रवीन्द्र संगीत' के समान 'निराला संगीत' का सपना उन्होने कभी देखा हो। उनके

प्रति न्याय करने के लिए यह कहना आवश्यक है कि वे छंद-वद्ध और मुक्त छंद दोनों की रचना मे समान रूप से सफल थे। तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, राम की शक्ति-पूजा और शिवाजी का पत्र जैसी वड़ी रचनाओ को छोड़ दें; तव भी एक ओर उनकी जुही की कली, संध्या सुंदरी, भिक्षुक, विधवा आदि जैसी रचनाए हैं, दूसरी ओर तुम और मैं, वरदे वीणावादिनि, मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा, नयनों के डोरे लाल और स्नेह निर्झर वह गया है, आदि कविताएं। इस वात से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि हिंदी काव्य में मुक्त छंद का प्रचलन तो निराला जी द्वारा हुआ, पर उसे वे एक जीवन-व्यापी 'मिशन' के रूप मे लेकर नहीं चल पाए।

भाषा के दोष

साहित्य मे अभिव्यक्ति का माध्यम शव्द हैं। इनके प्रयोग के आधार पर भी लेखकों के संवंध मे अनेक प्रकार के निर्णय लिए जा सकते हैं। विदेशो मे इस कार्य को काफी महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। वहाँ शेक्सपियर आदि अनेक लेखको के संवंध मे आँकड़ों के आधार पर इस वात का पता लगाया गया है कि उनमे से प्रत्येक ने मूलभूत कितने शब्दो का प्रयोग किया है। हमारे देश मे इस प्रकार के खोजो की परंपरा अभी नहीं विकसित हुई। अभी तो विद्वान् लोग रामचरितमानस का पाठ ही ठीक करने मे लगे हुए हैं। इसमे गीताप्रेस गोरखपुर के 'मानस' का पाठ (१९३८) कुछ और है, डा० माताप्रसाद गुप्त का पाठ (१९४९) कुछ और तथा पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के काशीराज संस्करण (१९६२) का कुछ और ही। मुद्रण की सुविधाओ के कारण खड़ीवोली के ग्रंथो के संवंध मे पाठ-भेद की वात उतनी नहीं उठती। यों खड़ीवोली के कवि भी अपनी रचनाओं मे चुपचाप परिवर्तन करते रहते हैं। श्री० मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' के नए संस्करणो मे

कई नए छंद बढ़ा दिए हैं। 'प्रिय-प्रवास' की अनेक पंक्तियों के एक से अधिक रूप पाए जाते हैं। पंत जी ने 'पल्लव' मे कुछ क्रियाएँ बदल दी है और निराला के 'कुकुरमुत्ता' मे भी अभिव्यक्ति का रूप कई स्थानों पर और से और हो गया है। इन परिवर्तनो का उल्लेख कवियों को अपने ग्रथो की भूमिकाओ मे स्वयं ही करना चाहिए, नही तो ऐसी छोटी बातें ही भविष्य मे शोध करने वाले विद्यार्थियो के लिए उलझन का कारण बन सकती है।

'पल्लव' के प्रवेश मे पंत जी ने आवेश मे आकर ब्रजभाषा के शब्दो—तरनि, पाहन, प्रान, प्रिय आदि—का मजाक उड़ाया था। ऐसे ही उसकी क्रियाएँ—कहत, लहत, हरहु, भरहु—उन्हे अच्छी नही लगी थी। पर अपनी बात का निर्वाह् वे अपने ही ग्रंथ मे नही कर पाए। वहाँ बादर बहादर भुलाव दिखलाव, सने धोरे, अकास पियालों, आदि के न जाने कितने प्रयोग मिलते हैं। उनके अन्य ग्रंथों मे भी ब्रजभाषा और विकृत शब्दों के प्रयोग की कमी नही। यही दशा मैथिलीशरण गुप्त से लगाकर अज्ञेय तक सभी कवियो की है।

निराला भी ब्रजभाषा के प्रभाव से अपने को मुक्त नही कर पाए।

खड़ीबोली को काव्योपयोगी बनाने वाले छायावादी कवि ही हैं। लेकिन जिस समय इन लोगो ने लिखना प्रारंभ किया, उस समय कोई बहुत बड़ी निधि इन्हे उत्तराधिकार मे न मिली थी; अतः कल्पना की जा सकती है कि तुको के लिए ब्रजभाषा के शब्द बार-बार इनकी स्मृति मे उमड़ते होगे, व्यजक भावो के लिए ब्रज के शब्द खड़ीबोली के शब्दो के साथ प्रतिस्पर्धा करते होंगे, क्रियाओं के प्रयोग के समय भी ब्रज अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती होगी। खड़ीबोली उस समय तक इतनी लचीली बन ही नही पायी थी कि वह सभी प्रकार की भावनाओ और विचारो की व्यंजना के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सके। लेकिन क्योंकि गद्य और पद्य की बोली को एक करने का आंदोलन चल पड़ा था; अतः

इन लोगो ने प्रयत्न किया कि जहाँ तक बन पड़े, वे ब्रज के आकर्षण-जाल मे न फँसें। इसीसे प्राचीनता के प्रभाव से मुक्त होने के लिए सजग स्तर पर इन्होने काफी संघर्ष किया और यह प्रयत्न पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी की कृतियों मे ही नही, द्विवेदी-युग के मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, ठाकुर गोपालशरणसिंह, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, नाथूरामशंकर शर्मा और रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओ मे बराबर परिलक्षित होता है।

जहाँ तक ब्रजभाषा और देहाती बोलियो का संबध है, निराला ने हेरें, धाय, माँझ, दुई, सीझना, सोहना, सरसाई, सुघराई, गात, अरघान, मूरत, छाँह, ओछे, हौली-हौली आदि शब्दो का प्रयोग खुलकर किया है। छद के आग्रह के लिए उन्होने 'इक' और 'तलक' को भी स्वीकार किया है। ऐसे ही 'प्रीत' शब्द को इन्होने गद्य और पद्य दोनो मे जिस रूप मे लिया है, हिंदी मे उसका प्रयोग उस रूप मे नही होता—बगाली मे होता हो तो होता हो। 'बेला' के प्रथम गीत मे ही इन्होने लिखा है: हो गए नहाकर प्रीत। यही दशा फारसी-अरबी के शब्दो की है। इन शब्दो की संख्या तो ब्रज के शब्दो से भी अधिक है। उदाहरण के लिए दग़ा, ग़रीब, साज़, सिन, सूरत, आसमा, गैर, तूफां, ज़मी, शोले, तहज़ीब, हस्ती, रफ्तार, बहार, ज़रा, क़तार, लज़ीज़ सिर्फ़, इशारे, वक्त, हरगिज़, सुब्होशाम आदि यहाँ-वहाँ बिखरे पड़े हैं। इसी प्रकार निराला जब संस्कृत के प्रभाव मे आकर कठिन शब्दो के प्रयोग पर उतरते हैं तो अक्षतपश्चय, समाश्वासि, विनिस्तन्द्र और कुज्झटिका आदि के झटके देने लगते हैं। अंग्रेजी के शब्दों, जैसे प्रोलेटेरियन, क्लाइमेक्स, ट्रैप, पोइट, क्राइट आदि का प्रयोग 'कुकुरमुत्ता' मे धड़ल्ले से किया ही है।

सन् १६१६ से १६३८ तक की कृतियो मे निराला की भाषा साहित्यिक और संस्कृत-गर्भित रही है और यही इनके काव्य-विकास का

वास्तविक काल है। 'तुलसीदास' इसकी चरम सीमा है। कुछ दिन शांत रहने के उपरांत निराला ने सरल अथवा खिचड़ी भाषा में लिखना प्रारम्भ किया। इस प्रवृत्ति के दर्शन 'कुकुरमुत्ता' (१९४२) से होने लगते है। उनकी यह प्रवृत्ति जीवन के अंत (१९६१) तक बनी रही। अयोध्यासिंह उपाध्याय की भाँति यह बात उनके मन मे भी कही छिपी हुई थी कि भाषा हमारी उँगलियों पर नाचती है। हम जब चाहे कठिन भाषा लिख सकते है, जब चाहे सरल। कहो तो 'प्रिय-प्रवास' लिख दें, कहो तो 'चोखे चौपदे', कहो तो 'तुलसीदास' की रचना कर दें, कहो तो 'कुकुरमुत्ता' उगा दें। ऐसा भी हुआ है कि एक ही काव्य-ग्रंथ में उन्होने कही अत्यंत दुरूह भाषा का प्रयोग किया है, कहीं अत्यधिक सरल भाषा का, उदाहरण के लिए 'आराधना' मे। इस प्रकार के प्रयोगों से साहित्य का कभी हित हुआ हो, हम नहीं जानते। ऐसे प्रयोग व्यक्ति के स्वभाव की अस्थिरता और विचित्रता के ही द्योतक होते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि 'प्रिय-प्रवास' और 'तुलसीदास' के उपरांत 'हरिऔध' और 'निराला' दोनो का काव्य उतार का काव्य है।

भाषा की क्लिष्टता के संबंध मे यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि समास-शैली का प्रयोग करने वाले निराला जी हिंदी मे अकेले कवि नहीं हैं। यह काम तुलसीदास और अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी 'विनय-पत्रिका' और 'प्रिय-प्रवास' मे किया है। 'राम की 'शक्ति-पूजा' मे इससे अधिक संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग नही हुआ। देखिए—

(१) केशवं क्लेशहं केश-वंदित-पद द्वन्द्व-मंदाकिनी-मूलभूतं,
सर्वदानन्द संदोह, मोहापहं, घोर-संसार-पाथोधि पोतं,
शोक-संदेह-पाथोद - पटलानिलं, पाप-पर्वत-कठिन-कुलिशरूपं,
संतजन-कामधुक-धेनु विश्रामप्रद, नाम कलि-कलुष-भंजन अनूपं।

—तुलसीदास

(२) रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु विम्बानना,
तन्वंगी, कल-हासिनी, सुरसिका, क्रीड़ा-कला पुत्तली,
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि-सी, लावण्य-लीलामयी,
श्रीराधा मृदु-भाषिणी, मृगदृगी, माधुर्य-सन्मूर्त्ति थीं।
—हरिऔध

(३) प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरितवह्नि-राजीव-नयन-हत—लक्ष्य—वाण,
लोहितलोचन-रावण—मदमोचन—महीयान।
—निराला

भाषा को मधुर वनाने के लिए अनुप्रास की ओर निराला का स्वाभाविक झुकाव था। अनुप्रास का प्रयोग वे ऐसे कर जाते हैं कि पता तक नहीं चलता। इससे भाषा का सौंदर्य निखर उठा है, इसमे संदेह नहीं; पर कहीं-कहीं, विशेष रूप से प्रारम्भिक रचनाओं मे, अनुप्रास यत्नपूर्वक लाया गया प्रतीत होता है। प्रत्येक कवि के जीवन मे यह एक ऐसा काल होता है, जव वह भाषा और अभिव्यक्ति को सँवारने के प्रयत्न मे सभी प्रकार के सहज एवं कृत्रिम प्रसाधनों का प्रयोग करता है। 'परिमल' की 'जलद के प्रति' कविता ऐसी ही है। उसे अनेक दृष्टियों से एक अपरिपक्व-कोटि की रचना कहा जा सकता है। संबोधन मे भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समान जैसे 'प्यारे' कहा है, वैसे ही विकृत शब्दों में 'वेठाल', फ़ारसी शब्दों मे होशियार, खूब, ज़ाती ख़्याल तथा अँग्रेजी मे डिंगरी और ग्रेड का प्रयोग हुआ है। पक्तियो मे मात्राएँ कम-अधिक हैं जैसे—क्षीण हुआ मुख, छलक रहा उन, नलिनी-दल-नयनो से दुख-नीर। और भी कई प्रकार की कारीगरियाँ इस रचना में झलक मार रही हैं। उदाहरण के लिए 'जल' और 'जलद' को लेकर कुछ जोड़-घटाने

की-सी बातें वे हमें समझाने बैठे हैं। पर सबसे अधिक अनुप्रास का यह प्रयोग रीतिकालीन अस्वाभाविकता का परिचायक है—

जलद नही जीवनद, जिलाया
जबकि जगज्जीवन्मृत को,
तपन—ताप—संतप्त तृषातुर
तरुणतमाल—तलाश्रित को;
पय—पीयूष—पूर्ण पानी से
भरा प्रीति का प्याला है,
नव वन, नव जन, नव तन, नव मन,
नव घन ! न्याय निराला है।

यही दशा तुकों की है। 'परिमल' मे 'आ' की तुक पर 'कह' लाए हैं, 'गीत-गुंज' मे 'निकले' की तुक पर 'सिकले'। 'नये पत्ते' मे गाथा के साथ भाषा, कोदों के साथ आमों, भादों के साथ संगीतों और हथनी के साथ पानी को भिड़ाया है। निश्चित रूप से ऐसे प्रयोग अभिव्यक्ति को दुर्बल वनाते है। व्याकरण-सम्मत अशुद्धियाँ भी कहीं-कही हैं ही। 'वेला' के एक गीत मे उन्होंने लिखा है—काँपी सुकोमल गात तुम्हारी। गात शब्द पुल्लिङ्ग है, जबकि निराला उसे स्त्रीलिङ्ग मानकर चले हैं। शब्दों को भी उन्होंने कहीं-कही तोडा-मरोडा है। 'चाहती हैं' के स्थान पर 'चहती हैं', 'सीख लो' के स्थान पर 'सिख लो' यहाँ-वहाँ मिलेंगे। सब शब्द ही समस्त का पर्यायवाची है; पर इन्होंने उसका भी बहुवचन बनाकर 'सबो' के रूप मे खपा दिया है। कही-कहीं अभिव्यक्ति उर्दू के ढंग की है जैसे—'सोचते व देखते हुए स्वामी जी चले जा रहे थे।' हिंदी मे 'व' का प्रयोग इस प्रकार नहीं होता। इसके लिए हमारे यहाँ और, तथा, एवं आदि शब्द है। कवि-स्वातंत्र्य के लिए यों पूरी छूट है; पर अपनी भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल प्रयोगों को जहाँ तक बन पड़े बचाना हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य है।

प्रतिभा का फूल

लोगो का कहना है कि कविता की व्याख्या नहीं की जा सकती; लेकिन गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के प्रारम्भ मे सरस्वती और गणेश की वंदना के बहाने यही बतलाने का प्रयत्न किया है कि कविता कहते किसे हैं। उनके अनुसार कविता सार्थक शब्दों का वह समूह है जो रसपूर्ण, छंदबद्ध और मंगलकारी हो—वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि, मंगलानां च कर्त्तारौ . . . यह कविता की निर्दोष व्याख्या है। प्रयोगवादी चाहे तो छंद के स्थान पर लय रख सकते हैं। आगे चलकर उन्होने यह भी बतलाया है कि काव्य की रचना यद्यपि आत्मसुख के लिए होती है; पर उसका विशेष महत्त्व उस समय है, जब वह विद्वानो द्वारा आदृत हो। इस प्रकार कविता तुलसीदास की दृष्टि मे स्वांत:सुखाय लिखी गयी वह रचना है जिसका लक्ष्य समाज का कल्याण है। उनकी दृष्टि व्यक्ति-कल्याण और लोक-कल्याण दोनो पर एक साथ रहती थी। हिंदी के महानतम कवि होने पर भी वे बराबर यही कहते रहे कि मैं कवि नही हूँ—कवि न होउँ, नहिं वचन प्रवीनू, सकल कला सब विद्या हीनू। इसमे यह ध्वनि निकलती है कि साहित्य-साधक को बहुत विनम्र होना चाहिए।

तुलसी जहाँ रसवादी थे, वहाँ केशव अलंकारवादी। उनका मत था कि जैसे रमणी आभूषणो के बिना सुन्दर नही लगती, वैसे ही कविता मे अलंकारो के बिना चमक नही उत्पन्न होती—भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त। मलिक मुहम्मद जायसी ने एक दूसरी ही बात उठायी है। उनका कहना है कि काव्य की प्रेरणा के लिए किसी से परिचित होना ही यथेष्ट नही है, व्यक्ति को सहृदय भी होना चाहिए। भौंरा सुदूर वनखंड से आकर कमल की गंध लेता है, जबकि दादुर उसके पास रहकर भी अप्रभावित रह जाता है। प्राचीन कवियो के काव्य में

और भी इस प्रकार के संकेत मिलते हैं; पर ये लोग व्यवस्थित रूप से काव्य पर चिंतन करने वाले कवि न थे। कविता के सम्बन्ध में शास्त्रीय-विवेचन रीति-काल में हुआ। इन कवियों में हम केशवदास, चिंतामणि त्रिपाठी, मतिराम, देव, श्रीपति, भिखारीदास आदि के नाम ले सकते हैं। कवि-प्रिया, काव्य-विवेक, रसराज, काव्य-रसायन, कवि-कल्पद्रुम और काव्य-निर्णय इनके उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में संस्कृत के साहित्य-शास्त्र के आधार पर काव्य के लक्षण निर्णीत हुए हैं। मौलिक चिंतन बहुत कम पाया जाता है।

आधुनिक कवियो में कला की सबसे सुन्दर व्याख्या मैथिलीशरण गुप्त ने की है। उनके अनुसार अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति को कला कहते हैं। पंत जी ने काव्य का जन्म वियोग की व्यथा से माना है। कविता के जन्म के संबंध मे और भी बहुत से अनुमान प्रचलित हैं। 'प्रसाद' काव्य का जन्म पीड़ा से ही नही, आनन्द से भी मानते हैं। कविता को उन्होंने जहाँ घनीभूत पीड़ा का दूसरा रूप माना है, वहाँ उनका ऐसा भी विश्वास है कि प्रतिभा का विकास सौंदर्य के सम्पर्क से होता है जिससे कवि काव्य का दान देने मे समर्थ होता है।

निराला ने अपने काव्य-ग्रंथों मे कविता को एक विषय मानकर उस पर चिंतन किया है। उनकी कई रचनाओं के शीर्षक 'कवि', 'कविता', 'कविता के प्रति' हैं।

कवि के लिए निराला ने 'महाप्राण' शब्द का प्रयोग किया है जिससे लगता है वे उसे एक असाधारण व्यक्ति मानते हैं। कवि संसार के प्राणियों से कुछ तो भिन्न होता ही है। संसार के प्राणी वस्तुओं का संग्रह अपने सुख के लिए करते हैं, जबकि कवि को सृष्टि के सम्पर्क से भावना के रूप मे जो निधि प्राप्त होती है, उसका दान वह मुक्त हृदय से कर देता है। इस प्रकार अन्य लोगों की तुलना में वह जीवनदाता है। अन्य लोग स्वार्थ-साधन मे लीन रहते हैं, कवि

परमार्थ-चिंतन में। जनसाधारण के दुःख से दुःखी होने वाला कहीं कोई नही है। प्रत्येक मनुष्य सहानुभूति का प्यासा है और वह उसे नहीं मिल पाती। अकेला कवि मनुष्य की मुक्ति का उपाय सोचता है और उसे नवीन आशा और उत्साह से भर देता है। सामान्य संसारी और कला का अनुशीलन करने वालों में एक और भी अन्तर है। संसार का बड़े से बड़ा सुख नश्वर है और अन्त मे व्यथा देकर जाता है। कवि अपनी अनुभूति को कल्पना से रंजित कर सुख-दुख के ऐसे चित्रों की सृष्टि करता है जो सुन्दर होने के साथ ही स्थायी महत्त्व के होते हैं। अपने प्राणो के रस से वह नश्वर को अमरता प्रदान करता है। इस प्रकार सामान्य संसारी तुच्छ होता है, यह महाप्राण, वह स्वार्थरत रहता है, यह परोपकार-निरत, वह शोषण करता है, यह मुक्ति का प्रदाता है, वह नश्वर के मोह मे बद्ध है, यह अमरता का उपासक है—

> महाप्राण ! जीवों में देते हो
> जीवन ही जीवन जोड़,
> मोड़ निज सुख से मुख।
> फूलते नहीं हैं फूल वैसे वसंत में
> जैसे तव कल्पना की डालों पर खिलते हैं।

'कविता' शीर्षक रचना मे निराला ने कविता के स्वरूप और उसकी विशेषताओं का उल्लेख किया है। कविता से सुन्दर और कुछ नहीं होता। कविता तो सुन्दरता साकार है। श्रेष्ठ काव्य का जन्म उस समय होता है जब कवि का हृदय बहुत भरा हुआ होता है। इससे यह सिद्ध होता कि निराला टेकनीक से अधिक अनुभूति को प्रधानता देने वाले कवियों में से थे। इस रचना मे निराला ने यह भी स्वीकार किया है कि काव्य के जितने भी प्रसाधन हैं वे सब मिलकर कवि को

अनुभूति से छोटे पड़ते है। भाषा मन के स्वप्न को मूर्तिमान करने मे सदैव असमर्थ रही है।

कविता के लिए कवि के हृदय मे कोमलतम भाव सुरक्षित हैं। एक ओर काव्य के मन्दिर मे चंदन-सुमन से अर्चना करने वाले लोग हैं, दूसरी ओर वह है जो केवल अपना नमस्कार निवेदित कर सकता है। एक ओर काव्य-सुन्दरी का मुक्ता-हीरा-स्वर्ण से शृंगार करने वाले कवि हैं, दूसरी ओर वह अकिंचन है, जिसके पास कुछ भी तो नहीं है। एक ओर भाव, विचार, कल्पना, कला के सम्राट है जिनके काव्य-वैभव से सभी चकित है, पर यदि उससे कोई प्रश्न करे कि तुम्हारे पास क्या है, तो वह केवल अपने आँसू दिखा सकता है। इतने पर भी कवि जानना चाहता है कि क्या उसे काव्य के मन्दिर मे प्रवेश करने अधिकार मिल सकेगा? क्या उसकी उपासना स्वीकृत होगी? इस विनम्रता से निराला की उच्चाशयता झलकती है। उनके जीवन-काल मे ही वाणी ने उनकी आराधना को स्वीकार कर लिया था। सभी जानते हैं कि निराला की गणना हमारे साहित्य के श्रेष्ठतम साधकों मे होती है।

मुक्त छंद को लेकर अपने विचार निराला ने 'प्रगल्भ प्रेम' मे व्यक्त किए हैं। छंदों की राह को उन्होंने संकीर्ण और कंटकाकीर्ण घोषित किया है। इस पर गजगामिनी कविता स्वच्छंदतापूर्वक नही चल सकती। यों हमारे बहुत से कवियो ने छंद के माध्यम से ही महान् कृतियों की रचना की है। रामचरितमानस, पद्मावत, कामायनी और दीपशिखा सब छंदबद्ध हैं। इतना होने पर भी अंत मे तुकें मिलती चलें, यह न तो अनिवार्य है, न स्वाभाविक। कवि लोग अभ्यास मे ही तुकों पर अधिकार कर पाते हैं। यह अभ्यास कौशल के रूप में परिवर्तित हो जाता है, कौशल कला के रूप मे। अतः निराला का

मुक्त छंद की ओर झुकाव उनकी मौलिक दृष्टि से क्रांतिकारी चिंतन का परिणाम है।

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छंदो की छोटी राह !
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण,
कंटकाकीर्ण…

श्रेष्ठ काव्य सहज भाव से स्फुरित होना चाहिए, वैसे ही जैसे बादलो में बिजली चमक उठती है, पर्वत से झरने फूटते है, लताओ में मंजरी आ जाती है। दूसरी विशेषता उसकी व्यापकता है। कविता का क्षेत्र और प्रभाव बहुत व्यापक होना चाहिए। वह जन साधारण की निधि बनकर रहे, इसी मे उसका महत्त्व निहित है—

सहज-सहज पग धर आओ उतर,
देखें वे सभी तुम्हे पथ पर।
वह जो सिर बोझ लिए आ रहा,
वह जो बछड़े को नहला रहा,
वह जो इस-उससे बतला रहा,
देखूँ, वे तुम्हे देख जाते भी हैं ठहर ?

इन सब बातो से ऐसा लगता हैं कि निराला के जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न एक सच्चे कवि का जीवन व्यतीत करना ही था। इसी से उन्होने एक स्थान पर ऐसी आकांक्षा व्यक्त की है—

मेरा फल न कुम्हला पाये।

काव्य का देवता

बीसवीं शताब्दी मे छायावाद-युग ही एक ऐसा युग है जिसे साहित्य की दृष्टि से समृद्ध कहा जा सकता है। इस युग ने हमे प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी जैसे कवि, प्रेमचंद जैसे उपन्यासकार और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक दिए। काल की दृष्टि से तो इसे भक्ति-काल के उपरांत ही रखा जा सकता है। ऐसे स्वर्ण-युग शताब्दियो मे कभी-कभी आते हैं। इस युग मे प्रसाद को महाकाव्यत्व की गरिमा, पंत को प्रकृति-वर्णन, महादेवी को रहस्यवाद के चरम विकास और निराला को मुक्त छंद की देन के लिए सदैव स्मरण किया जायगा। खड़ीबोली-काव्य के ये चार ऐसे स्तंभ हैं जिन पर छायावाद का सुदृढ भवन खड़ा हुआ है।

निराला-काव्य के मूल्यांकन मे एक तथ्य ऐसा है जिसकी ओर प्रारंभ मे ही ध्यान देने की आवश्यकता है। इस तथ्य पर न तो लीपा-पोती की जा सकती है और न उसकी किसी प्रकार उपेक्षा ही। काव्य के क्षेत्र मे उन्होंने पैंतालीस वर्ष (१६१६-१६६१) साधना की। इनमे पहले बाईस वर्ष उनके काव्य के विकास के वर्ष हैं, पिछले बाईस वर्ष उसके धीरे - धीरे ह्रास के। उनके काव्य का पूर्वार्द्ध (१६१६-१६३८) जैसा समृद्ध है, उत्तरार्द्ध (१६३६-१६६१) वैसे ही साधारणता का परिचायक हैं। काव्य के उत्तर चरण की साधारणता के लिए कई बातें उत्तरदायी हैं। पहली बात है अभिव्यक्ति के स्तर का गिर जाना। 'अनामिका' से लेकर 'तुलसीदास' तक मे क्लासिक भव्यता

के साथ जिस कलात्मक सौष्ठव के दर्शन होते हैं, उसकी झलक तक 'कुकुरमुत्ता' से लेकर 'गीत गुंज' की रचनाओ में नही पायी जाती। अन्य छायावादी कवियो के काव्य की भी अपनी सीमाएँ हैं। निराला की सीमाएँ उनकी तुलना मे कुछ अधिक स्पष्ट है। 'प्रसाद' मे कामायनी और उनके अन्य काव्य-ग्रंथों के बीच एक बड़ी खाई पायी जाती हैं; लेकिन उनका एक महाग्रंथ ही ऐसा है जो सब कमियो को पूरा कर देता है। पंत जी की अरविंदवादी रचनाएँ सहृदयो को बिल्कुल प्रभावित नही कर पायी, लेकिन दोनो की यदि तुलना करें तो स्वतंत्रता के उपरांत 'स्वर्ण किरण' से लेकर 'कला और बूढा चाँद' तक पंत जी की जो कृतियाँ आई है, वे निराला की इसी काल की रचनाओं—अर्चना, आराधना, गीत-गुंज—से कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन रचनाओं को पढ़कर तो कभी-कभी मन मे ऐसा संदेह उठता है कि ये निराला जी के हाथ की लिखी हुई हैं भी अथवा नही। महादेवी जी के काव्य पर आक्षेप करने वालो का कहना है कि उनका विषय बहुत सीमित है और उस सीमा के भीतर भी वे अपने को प्रायः दुहराती रही हैं। इधर 'दीपशिखा' (१९४२) के उपरांत वे बीस वर्ष से मौन हैं। लेकिन फिर इस संयम की प्रशंसा भी करनी पड़ती है कि उनके पास कहने को अधिक कुछ नही हैं, तो वे कम से कम चुप तो हैं। कोई दूसरा होता तो इन बीस वर्षो मे उसके बीस काव्य-ग्रंथ आगए होते—फिर चाहे वे कैसे ही होते! महादेवी जी ने कम अवश्य लिखा है; पर उनके दिव्यतम और साधारण मे निराला के समान आकाश-पाताल का अंतर नही है। निराला की अंतिम तीन रचनाएं प्रकाशित न होती तो कितना अच्छा होता। पर ऐसा कौन महापुरुष है जिसका कुछ न कुछ अहित उसके अंध भक्तो ने न किया हो ?

छायावाद-युग समाप्त हो गया है, इसकी चेतना पत और निराला दोनों की थी। यह कहना सत्य का अपलाप मात्र होगा कि प्रगतिवादी

और प्रयोगवादी आदोलनों का इन दोनों कवियो पर कोई प्रभाव नही पडा। प्रगति का दोनों कवियो ने अपने-अपने ढग से साथ दिया। प्रयोग की दिशाएं भिन्न है। लेकिन पंत जी ने अपने पूरे रचनाकाल मे अभिव्यक्ति के स्तर को कभी नही गिराया। कला के प्रति इस दृष्टि ने उनके छोटे-मोटे दोषों को ढक दिया है। लेकिन निराला जी थे कि काव्य की गंभीरता से व्यंग्य के हल्के स्तर पर उत्तर आए। हास्य-व्यंग्य के समर्थन मे कोई कुछ भी क्यों न कहे, पर वह विकृतियो और असंगतियों का काव्य है। जीवन के स्वर-सामंजस्य को खोकर ही व्यक्ति हास्य-व्यंग्य पर उतरता है। स्वयं निराला का व्यंग्य-काव्य उनके गभीर काव्य की तुलना मे बहुत हल्का लगता है। निराला ने गजलो के प्रयोग किए। हिंदी मे गजलो के प्रयोग न तो कभी सफल हुए और न हो सकते हैं। मेरी सम्मति से गजलें लिखना जिनका काम है, उनके लिए छोड़ देना चाहिए। प्रांजल हिंदी से वे हिंदुस्तानी गढने लगे। खिचड़ी भाषा के इस प्रयोग से भी कोई बात बन नही पायी। यह सब तो था ही, इसी बीच दुर्भाग्य से उनका मानसिक संतुलन नष्ट हो गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे तथ्य एकत्र हो गये जिनसे उनके काव्य का उत्तरार्द्ध पगु हो गया। स्वतत्रता के उपरांत का उनका काव्य एक प्रकार के पक्षाघात से पीड़ित काव्य है। अतः किसी भी कवि का उचित मूल्याकन यदि उसकी श्रेष्ठतम रचनाओं से होता है, तो हमे अपनी दृष्टि को अधिकतर निराला के काव्य के पूर्वार्द्ध और उत्तर-काल की कुछ चुनी हुई रचनाओ तक सीमित रखना होगा।

निराला की तुलना एक ऐसे समुद्र से की जा सकती है जिसके विशाल वक्ष पर उजले पाल वाली नौकाओ के साथ बड़े-बड़े जलयान तैर रहे हो, जिसमे छोटी सरिताओ से लेकर महानद तक आकर समा गए हो, जिसमे सुन्दर और कुरूप सभी प्रकार के जलचर पाए जाते हो, जिसमे ऐसे मोती भी हो जिनका मूल्य आँकना संभव न हो और ऐसी

सीपियाँ भी जो भीतर से खाली हो, जिसमे अनंत जलराशि और टूटने वाली लहरियाँ दोनो हो, जिसमे ज्वार उठे तो दृष्टि आतंकित हो और भाटा आए तो भीतर की खुरदरी क्षुद्र शिलाएँ और बालू के अटमैले कण दिखाई देने लगें। उनकी समानता उस आकाश से की जा सकती है जिसमे सूर्य-चंद्र भी मुस्कराते हो और उडुगण भी टिमटिमाते हों, जिसमें आँधियाँ भी आती हों और समीर भी बहता हो, जिसमे प्रभात का राशि-राशि आलोक भी बरसता हो और संध्या का तम भी सहसा घनीभूत हो जाता हो, जिसमे चाँदनी की बाढ़ भी आती हो और धूल भी छा जाती हो। उनकी उपमा उस धरती से दी जा सकती है जिसके प्राणो मे यदि शरद-वसंत मुस्कराते है तो निदाघ, वर्षा और पतझर भी बसते है, जिस पर पर्वत ऊंचा सिर किए खडे हैं, तो खाइयाँ नीचे धसती चली गयी हैं, जिसके सुरम्य उद्यानों और स्वच्छ सरोवरो मे गुलाब और कमल खिलते है तो वनो मे बेतरतीब वृक्ष, कंटीली झाड़ियाँ और सूखी घास भी उगी है। कहने का तात्पर्य यह कि निराला के व्यक्तित्व मे महान् और तुच्छ, श्रेष्ठतम और निकृष्टतम, पूर्ण व्यवस्था और घोर अव्यवस्था का संयोग एक साथ पाया जाता है। यही कारण है कि उनके काव्य के अध्ययन से हृदय कहीं अगम ऊँचाइयो को छू आता है और कही अप्रभावित रह जाता है।

छायावादी कवियो मे निराला जीवन के सबसे अधिक निकट थे। उससे उनका घनिष्ठ परिचय था। जीवन अपनी सम्पूर्ण विविधता के साथ ही नही, पूरी गहराई के साथ उनके काव्य मे चित्रित हुआ है। ओज और करुणा, विनय और विद्रोह, रोमांस और भक्ति, क्लासिक गंभीरता और हास्य-व्यंग्य सभी को वे समान शक्ति से सँभालते दिखाई देते है। वे एक साथ छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, राष्ट्रवादी, मानवतावादी और ब्रह्मवादी भी हैं। वे व्यक्तिवादी भी है और समष्टिवादी भी, यथार्थवादी भी और आदर्शवादी भी, निराशावादी भी और

आनंदवादी भी। उनमे कभी प्रखर अहं उभरता है, कभी सजल दीनता। समाज, राजनीति, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, कला, संस्कृति के क्षेत्र की कोई ऐसी बात नही जिससे वे परिचित न हो। वे मुक्त छंद के प्रवर्त्तक हैं, पर छंदबद्ध काव्य पर उनका असाधारण अधिकार है। भाषा कही एकदम संस्कृतनिष्ठ है, कही बिल्कुल बोलचाल की। काव्य कही अत्यंत सरल है, कही अत्यंत दुरूह। अभिव्यक्ति कही शुद्ध अभिधामूलक है, कही समास, प्रतीक, बिंब, नाद, लय, ध्वनि, मानवीकरण और चित्रमयता से पूर्ण। इस प्रकार भाव, विचार, कल्पना और कला के क्षेत्र में विरोधी तत्त्वों के अपूर्व सामंजस्य का दूसरा नाम है—निराला। युग की सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ उनके काव्य मे प्रतिबिंबित है। वे पूरा एक युग हैं।

निराला जो पाठक के हृदय को इतना अभिभूत करते हैं, उसका मुख्य कारण यह है कि उनका काव्य साहित्य और जीवन के श्रेष्ठतम-मूल्यो से अनुप्राणित है। यह काव्य जैसे अतरतम की अगम गहराई से उमड़कर आया है, व्यक्तित्व की सम्पूर्ण सचाई के भीतर से उसकी सृष्टि हुई है। उसमे अनुभूति की पूरी ऊष्मा, जीवन का पूरा आवेग है। वह स्वस्थतम क्षणो की उपज है। उसमे कवि की सृजन-कल्पना कला की पूरी ऊँचाई से रम्यतम सौदर्य-प्रसाधनों का चयन करके लायी है। इन रचनाओं मे कवि का व्यक्तित्व काव्य के विराट आयामों के साथ तादात्म्य का अनुभव कर प्रेरणा की समाधि मे कुछ ऐसा ऊँचा उठ गया है कि वहाँ से वाणी की जो भी झंकार उठती है, वह सत्य, शिव, सुंदर की पर्यायवाची बन जाती है। उनके काव्य मे जो भव्यतम है, केवल उसके आधार पर कोई निर्णय देना हो, तो कहीं-कही तो बिल्कुल ऐसा प्रतीत होता है जैसे मनुष्य के स्थान पर कोई अतिमानव लिख रहा हो। कुल मिलाकर निराला को यदि हम काव्य का देवता कहें, तो मेरी दृष्टि से, कोई अत्युक्ति की बात न होगी।